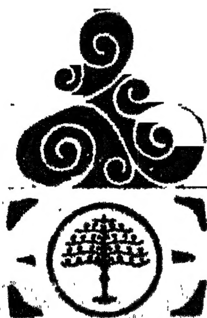
काव्य में उदात्त तत्त्व

डा० नगेन्द्र



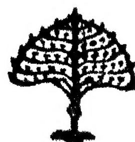
काव्य में उदात्त तत्त्व

[लोंगिनुस (लोंजाइनस) के काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन और 'पेरि इप्सुस' का हिन्दी अनुवाद]

भूमिका-लेखक
डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्

अनुवादक
डॉ० नगेन्द्र
श्री नेमिचन्द्र जैन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



मूल्य : साढ़े तीन रुपये (३·५०)
प्रथम संस्करण : नवम्बर, १६५८
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, दिल्ली

निवेदन

'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' के पश्चात् 'काव्य में उदात्त तत्त्व' हमारा इस दिशा में दूसरा प्रकाशन है। हमें आशा है कि भारतीय जिज्ञासु के लिए पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के भण्डार का उद्घाटन करने में यह ग्रंथ भी यत्किंचित् योगदान कर सकेगा।

'काव्य में उदात्त तत्त्व' 'ऑन दि सब्लाइम' का उसी प्रकार रूपान्तर नहीं है जिस प्रकार 'ऑन दि सब्लाइम' मूल शीर्षक 'पेरि इप्सुस' का अनुवाद नहीं है। किन्तु ग्रन्थ का वास्तविक प्रतिपाद्य यही है और इसीलिए सर्वथा शाब्दिक रूपान्तर न होने पर भी यह शीर्षक अपेक्षाकृत अधिक व्यंजक और स्पष्ट है। 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' की भाँति यहाँ भी हमने यूनानी नामों के मूल उच्चारण ही देने का प्रयत्न किया है: सुविधा के लिए अधिक प्रचलित अंग्रेजी उच्चारण भी कहीं-कहीं कोष्ठक में दे दिये गये हैं। सब मिलाकर नामों के प्रत्यंकन के लिए यही रीति अधिक शुद्ध और उपादेय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवाद में हमें हिन्दी के सुपरिचित कवि-लेखक श्री नेमिचन्द्र जैन का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है: नाम-परिचय शीर्षक से टिप्पणियाँ तो सभी उन्हीं की लिखी हुई हैं। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली–८
विजयादशमी, २०१५

—नगेन्द्र

भूमिका

लेखक—डा० नगेन्द्र,
एम्. ए., डी. लिट्

काव्य में उदात्त तत्त्व

प्रस्तुत निबन्ध और उसका लेखक—

यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के प्रसिद्ध निबन्ध 'पेरि पोइतिकेस' के बाद दूसरा स्थान है 'पेरि इप्सुस' का। 'पेरि इप्सुस' का शब्दार्थ है 'औदात्त्य (ऊँचाई) के विषय में'—जिसका अंगरेज़ी रूपान्तर 'ऑन दि सब्लाइम' पाश्चात्य साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रख्यात ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' (कुन्तक) की तरह 'पेरि इप्सुस' भी शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में पड़ा रहा। रचनाकाल के लगभग हज़ार-डेढ़हज़ार वर्ष बाद सन् १५५४ ई० में पहली बार प्रस्तुत निबन्ध का प्रकाशन हुआ—जिस पर लेखक-रूप में दिओन्युसिअस लोंगिनुस (अंगरेज़ी उच्चारण—डाइनोसियस लोंजाइनस) का नाम अंकित था। इसके उपरान्त यूरोप की अनेक भाषाओं में ग्रन्थ के, एक के बाद एक, अनुवाद प्रकाशित होते गये और सब में लोंगिनुस (लोंजाइनस) को ही, बिना किसी प्रकार के तर्क-वितर्क के, लेखक-रूप में स्वीकार किया जाता रहा। किन्तु उन्नीसवीं शती के आरम्भ में अनेक शंकाएँ उठने लगीं और उनके मूल में कई कारण थे—(१) लोंगिनुस की प्रामाणिक ग्रंथ-सूची में उक्त निबन्ध का अन्तर्भाव नहीं है। (२) निबन्ध की एक-दो प्राचीन पाण्डुलिपियों में दिओन्युसिअस लोंगिनुस का विकल्प 'दिओन्युसिअस अथवा लोंगिनुस' अङ्कित मिलता है। एक शंका ने दूसरी को जन्म दिया और पक्ष-विपक्ष में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे। विपक्ष के दो प्रमुख तर्क थे—एक, यह निबन्ध ईसा की पहली शताब्दी के किसी अज्ञात लेखक का है जो कदाचित् इसे प्रकाशित करने का इच्छुक नहीं था ; कई-एक शताब्दी बाद किसी परवर्ती भाषण-शास्त्री ने अनुमान से दो प्रसिद्ध शास्त्रकारों—दिओन्युसिअस और लोंगिनुस—के नाम विकल्प रूप से टंकित कर दिये। दूसरे, लोंगिनुस का पूरा नाम, जो ईसा की तीसरी शती में पालम्युरा की महारानी ज़ेनोबिया का व्युत्पन्न मन्त्री था और जिसने पालम्युरा के विप्लव के बाद अत्यन्त साहसपूर्वक

वीरगति का वरण किया था, दिग्रोन्युसिग्रस लोंगिनुस न होकर कैस्सिग्रस लोंगिनुस था। ग्रन्थ के अँगरेज़ अनुवादक रॉबर्ट्स और एट्किन्स आदि विद्वान् विपक्ष के ही अन्तर्गत आते हैं। पक्ष के तार्किकों ने भी इसका प्रत्युत्तर दिया और परम्परा का प्रमाण देते हुए इतिहास-प्रसिद्ध लोंगिनुस को ही प्रस्तुत निबन्ध का रचयिता सिद्ध किया। स्कॉट जेम्स ने अत्यन्त उच्छ्वसित शब्दों में परम्परा का समर्थन किया है: 'इस विश्वास से इतिहास एक नई दीप्ति से जगमगा उठता है कि 'काव्य में उदात्त तत्त्व' का लेखक वही लोंगिनुस(लोंजाइनस) था जिसने महारानी ज़ेनोबिग्रा की निष्ठा के साथ सेवा की थी। जब हमें यह पता लगता है कि इस निबन्ध का रचयिता 'पालम्युरा का वीर' था तो हमारी दृष्टि में ग्रंथ का मूल्य बढ़ जाता है; इसी प्रकार यह जान लेने के बाद कि प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने पालम्युरा नगर के रचना-विधान में योग दिया था, पालम्युरा का आकर्षण भी बढ़ जाता है।'[1]

संक्षेप में, आलोच्य निबन्ध के रचनाकार और रचना-काल के विषय में पाश्चात्य आलोचकों के दो मत हैं—(१) इसका लेखक ज़ेनोबिग्रा का मन्त्री लोंगिनुस (लोंजाइनस) ही था जो अपनी वीरता और विदग्धता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है; और इसकी रचना ईसा की तीसरी शताब्दी में हुई थी। (२) इसका रचयिता कोई अज्ञात यूनानी या रोमी-यूनानी लेखक था और इसकी रचना ईसा की पहली शताब्दी में हुई थी। प्राचीन साहित्यकारों के विषय में इस प्रकार का विवाद कोई नई बात नहीं है—स्वदेश-विदेश के अधिकांश प्राचीन कवियों और कलाकारों के विषय में इस प्रकार का सन्देह बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि विपक्ष का मत भी अपुष्ट नहीं है, फिर भी सभी तर्कों का सम्यक् विश्लेषण करने के पश्चात् हमारा झुकाव परम्परा के पक्ष में ही है। जब तक कोई अकाट्य प्रमाण न मिल जाए तब तक स्वीकृत परम्परा की मान्यता का निषेध नहीं किया जा सकता और प्रस्तुत परम्परा को तो युग-युग के प्रसिद्ध विद्वानों—बुग्रलो, पोप, एडीसन आदि—का बल प्राप्त है।

निबन्ध का प्रतिपाद्य—

निबन्ध की उपलब्ध प्रति स्पष्टतः खण्डित है—उसका लगभग ⅓ भाग अप्राप्य है। इसका प्रतिपाद्य विषय, जैसा कि इसके अँगरेज़ी शीर्षक से भ्रम हो

---

१. दि मेकिंग आफ़ लिटरेचर, पृष्ठ ८०।

जाता है, काव्यगत उदात्त भावना का विश्लेषण नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में यह शुद्ध रस-शास्त्र का ग्रन्थ न होकर काव्यशास्त्र का ही ग्रन्थ है अर्थात् इसमें उदात्त कला की प्रेरक भावनाओं और धारणाओं का विश्लेषण नहीं वरन् उदात्त शैली के आधार-तत्त्वों का विवेचन प्रधान है। उदात्त के आध्यात्मिक उद्गम की यहाँ उपेक्षा नहीं की गई, परन्तु मूल विवेच्य 'अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता' ही है—'उदात्त की कला' का और स्पष्ट शब्दों में 'इस बात का विवेचन कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्त्य के किसी निश्चित स्तर तक किस प्रकार उन्नमित कर सकते हैं' प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य विषय है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि लेखक उदात्त के आध्यात्मिक पक्ष को वांछित महत्त्व नहीं देता—वास्तव में आत्मा के उत्कर्ष और 'उद्दाम प्रेरणा-प्रसूत आवेग' को वह उदात्त का प्राण-तत्त्व मानता है, परंतु वह प्रस्तुत निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य नहीं है। इस विषय पर तो एक स्वतन्त्र निबन्ध[1] लिखने का दायित्व उसने लिया था जो कदाचित् पूरा नहीं हुआ।

स्थूल रूप से लेखक के प्रतिपाद्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विशेष सिद्धान्त—अर्थात् 'उदात्त' (शैली) का विवेचन; (२) सामान्य सिद्धान्त—अर्थात् कला के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन, जैसे कला और प्रकृति, शैल्पिक परिशुद्धता और प्रतिभा, कला और नैतिकता आदि। इनमें पहला भाग ही मुख्य है और लेखक ने विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप से उसके अन्तर्गत अपने प्रतिपाद्य का विवेचन-विश्लेषण किया है। दूसरा भाग—अधिक मूल्यवान् होते हुए भी—निबन्ध की योजना में गौण ही है। इसमें संदेह नहीं कि इसके अन्तर्गत लेखक ने कला के आधारभूत सिद्धान्तों पर अत्यंत गंभीर एवं मौलिक विचार व्यक्त किये हैं जिनका महत्त्व सार्वभौम और चिरन्तन है, फिर भी प्रस्तुत निबन्ध में यह विवेचन प्रासंगिक रूप में ही हुआ है, आधिकारिक रूप में नहीं।

उदात्त का स्वरूप

लोंगिनुस ने उदात्त की परिभाषा नहीं की—उसे एक स्वतः स्पष्ट तथ्य मानकर छोड़ दिया है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य यद्यपि उदात्त शैली के तत्त्वों अर्थात् उदात्त के बहिरंग तत्त्वों का[2] विवेचन ही रहा है, परन्तु उसके आध्या-

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ४८।

२. इस विषय में कोई लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि औदात्त्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है। काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ४४।

त्मिक पक्ष की पूर्ण उपेक्षा नहीं की गई। उनकी निरूपण-विधि व्यावहारिक होते हुए भी मनोविज्ञान पर आश्रित रही है अतएव उसमें उदात्त के अन्तरंग तत्त्वों के भी मौलिक संकेत स्वभावतः उपलब्ध हो जाते हैं। उदात्त का यह स्वरूप-विवेचन स्थूलतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) अन्तरंग तत्त्व (२) बहिरंग तत्त्व और (३) विरोधी तत्त्व। इनमें यद्यपि लेखक का ध्यान दूसरे विषय पर ही केन्द्रित रहा है, फिर भी पहले और तीसरे विषयों का भी अपना महत्त्व है—उनके बिना लेखक का प्रतिपाद्य इतना स्पष्ट न होता।

अंतरंग तत्त्व—

लोंगिनुस ने औदात्त्य के पाँच उद्गम-स्रोतों का निर्देश किया है जिनमें दो जन्मजात या अंतरंग हैं और शेष तीन कलागत : 'इन पाँचों में प्रथम और सर्व-प्रमुख है महान् धारणाओं की क्षमता ××× । दूसरा है उद्दाम और प्रेरणा-प्रसूत आवेग। औदात्त्य के ये दो अवयव लगभग जन्मजात होते हैं।'[1] अर्थात् इन दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध आत्मा की गरिमा से है : 'इसलिए इस विषय में भी ××× यथासम्भव हमें अपनी आत्मा में उदात्त विचारों का पोषण करना चाहिए और उसे भव्य प्रेरणाओं से परिपूरित रखना चाहिए। तुम पूछोगे यह किस प्रकार किया जा सकता है ? एक और स्थान पर मैंने लिखा है—औदात्त्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।'[2] इस प्रकार उदात्त के दो अंतरंग तत्त्व हैं : उदात्त विचार और प्रेरणा-प्रसूत आवेग और इन दोनों में भी मुख्य है आवेग—'मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो आवेग उन्मद उत्साह के उद्दाम वेग से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्त्य आता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।'[3]

आवेग की भी कोटियाँ होती हैं। लोंगिनुस ने केवल प्रेरणा-प्रसूत भव्य आवेग को ही औदात्त्य का उद्गम माना है। आवेग के सभी रूप उदात्त नहीं होते और स्वभावतः वे उदात्त कला की सृष्टि नहीं कर सकते। अतः औदात्त्य और आवेग को पर्याय मानना भूल होगी। भव्य आवेग से अभिप्राय ऐसे आवेग का है जिससे 'हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ५३।
२. वही, पृष्ठ ५५।
३. वही, पृष्ठ ५४।

में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है।'[1] इसी प्रकार का आवेग उदात्त की सृष्टि करता है। इसके विपरीत कुछ 'ऐसे भी आवेग होते हैं जो औदात्य से बहुत दूर हैं और जो निम्नतर कोटि के हैं जैसे दया, शोक, भय आदि।'[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के भाव उदात्त की सृष्टि में सर्वथा असमर्थ ही नहीं वरन् बाधक भी होते हैं। लोंगिनुस का दृढ़ विश्वास है कि 'सच्चे वाग्मी (कलाकार) को निश्चय ही क्षुद्र और हीनतर भावों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि जीवन-भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके।' 'महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों।'[3]

एक दूसरे प्रकार से भी लेखक ने उदात्त के आंतरिक स्वरूप की व्याख्या की है और वह है प्रभाव-वर्णन द्वारा :

'किन्तु उदात्त का प्रभाव अत्यन्त प्रबल और दुर्निवार होता है।'[4]

'वास्तव में महान् रचना वही है × × × जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।'[5]

'साधारणतः औदात्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें।'

'वज्रपात का बिना पलक झपाये सामना करना तो आसान है, किन्तु एक के बाद एक तीव्र गति से होने वाले उस भाव-विस्फोट को अविचल दृष्टि से देखना सम्भव नहीं।'[6]

'यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व भी मानव-मस्तिष्क के विचार और चिंतन के लिए पर्याप्त नहीं लगता और प्रायः हमारी कल्पना दिगन्त को पार कर जाती है।'[7]

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ५२।
२. वही, पृ० ५४।
३. वही, पृष्ठ ५५।
४. वही, पृष्ठ ४४।
५. वही, पृष्ठ ५२।
६. वही, पृष्ठ ९९।
७. वही, पृष्ठ १००।

'यही कारण है कि स्वभाव से ही हम छोटी-छोटी धाराओं की प्रशंसा नहीं करतें, चाहे वे कितनी ही उपयोगी और निर्मल क्यों न हों, बल्कि नील नदी, डेन्यूब अथवा राइन और इन सबसे अधिक महासागर से प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार हम अपने द्वारा प्रज्वलित छोटी-सी अग्निशिखा को (यद्यपि उसके प्रकाश की पवित्रता चिरकाल से यथावत् सुरक्षित है) स्वर्गिक ज्वालाओं की अपेक्षा अधिक सम्भ्रम से नहीं देखते, यद्यपि वे प्रायः अन्धकार में छिपी रहती हैं : न हम उसे ऐतना के ज्वालामुखियों की अपेक्षा अधिक विस्मयकारी मानते हैं जो अपने विस्फोट में अतल गर्त से वड़े-बड़े पत्थर एवं वृहदाकार शिलाखण्ड बाहर फेंकते रहते हैं और कभी-कभी जिनके गर्भ से विशुद्ध और अमिश्रित आन्तर्भौम ज्वाला का नद-प्रवाह उमड़ता चला आता है। इन सब विषयों में हम यह कह सकते हैं कि जो कुछ भी उपयोगी तथा आवश्यक है उसे मनुष्य साधारण मानता है, अपने सम्भ्रम का भाव तो वह उन पदार्थों के लिए ही सुरक्षित रखता है जो विस्मय-विमूढ़ कर देने वाले हैं।'[1]

'और सभी गुण जहाँ यह सिद्ध करते हैं कि उनको धारण करने वाले मनुष्य हैं वहाँ औदात्त्य लेखक को ईश्वर के समीप ले आता है; जहाँ दोषमुक्त होने पर आलोचनाओं से छुटकारा मिलता है, वहाँ गरिमा आदर और विस्मय को जन्म देती है।'[2]

विवेचन

भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में उपर्युक्त उद्धरणों में उदात्त के विभाव और भाव दोनों पक्षों का वर्णन है। विभाव से अभिप्राय भाव के कारण का है और भाव का अर्थ है अनुभूति। इन वाक्यों में उदात्त भावना को जन्म देने वाले कारणों—अर्थात् उसके आलम्बन पक्ष का और उदात्त भावना के अनुभूति पक्ष का विवेचन मिलता है।

विभाव पक्ष :

विभाव आलम्बन रूप में उदात्त के तत्त्व हैं—

(१) **अनन्त विस्तार**—[(क) सम्पूर्ण विश्व भी × × × पर्याप्त नहीं लगता और प्रायः हमारी कल्पना दिगन्त को पार कर जाती है। (ख) बल्कि नील नदी, डेन्यूब और इन सबसे अधिक महासागर से प्रभावित होते हैं।]

(२) **असाधारण शक्ति और वेग**—['न हम उसे ऐतना के ज्वालामुखियों

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १००–१।

२. वही, पृष्ठ १०१।

की अपेक्षा अधिक विस्मयकारी मानते हैं जो अपने विस्फोट में अतल गर्भ से बड़े-बड़े पत्थर एवं बृहदाकार शिलाखण्ड बाहर फेंकते रहते हैं और कभी-कभी जिनके गर्भ से विशुद्ध और आन्तभौम ज्वाला का नद-प्रवाह उमड़ता चला आता है।']

३. **अलौकिक ऐश्वर्य**—['और सभी गुण जहाँ यह सिद्ध करते हैं कि उनको धारण करने वाले मनुष्य हैं वहाँ औदात्त्य लेखक को ईश्वर के (ऐश्वर्य के) समीप ले आता है।']

४. **उत्कट एवं स्थायी प्रभाव-क्षमता**—[(क) 'वज्रपात का बिना पलक झपाये सामना करना तो आसान है किन्तु एक के बाद एक तीव्र गति से होने वाले उस भाव-विस्फोट को अविचल गति से देखना सम्भव नहीं।' (ख) 'जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।']

संक्षेप में, स्वयं लोंगिनुस के ही शब्दों में उदात्त आलम्बन के गुण हैं : **'जीवन्त आवेग, प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति तथा ऐसी शक्ति और वेग जिसकी समता करना सम्भव नहीं।'**

भाव पक्ष :

उदात्त की अनुभूति के अंतर्तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) **मन की ऊर्जा**—अर्थात् आत्मा का उत्कर्ष करने वाली प्रबल अनुभूति। लोंगिनुस ने दो प्रकार के आवेगों की ओर संकेत किया है; एक—उत्साह आदि जिनसे आत्मा का उत्कर्ष होता है और दो—भय, शोक आदि हीनतर आवेग जो आत्मा का अपकर्ष करते हैं। उदात्त की अनुभूति पहली कोटि में आती है ('जिससे हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है।')—भारतीय काव्यशास्त्र में जिसे चित्त की 'दीप्ति' या 'स्फीति' कहा है।

(२) **उल्लास**—[(क) 'तथा (जिससे हमारी आत्मा) हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है।' (ख) 'साधारणतः औदात्त्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें।']

(३) **संभ्रम अर्थात् आदर और विस्मय**—[(क) 'जो कुछ भी उपयोगी तथा आवश्यक है उसे मनुष्य साधारण मानता है, अपने सम्भ्रम का भाव तो वह उन पदार्थों के लिए ही सुरक्षित रखता है जो विस्मय-विमूढ़ कर देने वाले हैं।' (ख) '× × वहाँ गरिमा आदर और विस्मय को जन्म देती है।']

(४) **अभिभूति अर्थात् सम्पूर्ण चेतना के अभिभत हो जाने की अनुभूति**—

उदात्त की अनुभूति का अंतिम रूप यही है : ऊर्जा, उल्लास और सम्भ्रम आदि के सम्मिलित प्रभाव-रूप अंततः हमारी सम्पूर्ण चेतना अभिभूत हो जाती है। लोंगिनुस ने 'विस्मय-विमूढ़' शब्द के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया है।

बहिरंग तत्त्व—

जैसा कि हमने आरम्भ में ही निवेदन किया है, लोंगिनुस के निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य उदात्त शैली ही है—अर्थात् उनका ध्यान मूलतः उन तत्त्वों पर ही केन्द्रित रहा है जिनके द्वारा काव्य की शैली उदात्त बनती है। स्पष्टतः ये उदात्त के बहिरंग तत्त्व हैं, स्वयं लेखक के शब्दों में ये 'कला की उपज हैं'।[1] इस प्रकार कलागत या बहिरंग तत्त्व तीन हैं : एक—अलंकारों की समुचित योजना जिसके अंतर्गत भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही से संबन्धित अलंकार आ जाते हैं। दो—उत्कृष्ट भाषा जिसके अंतर्गत शब्द-चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा-समृद्धि आदि गुण आ जाते हैं। तीन—गरिमामय एवं ऊर्जित रचना-विधान।[2] लोंगिनुस ने विस्तार से इन तीनों तत्त्वों को लेकर अपने विचार प्रकट किये हैं।

समुचित अलंकार-योजना :

इस प्रसंग में लेखक ने दो तथ्यों को ग्रहण किया है : एक अलंकार-विधान का औचित्य और दूसरा उदात्त के पोषक अलंकारों का निर्देश। अपनी मूल धारणा के अनुरूप ही लोंगिनुस अलंकार-विधान में औचित्य को प्राथमिकता देते हैं; उदात्त शैली के निर्माण में अलंकारों का प्रयोग तो आवश्यक होता ही है, किन्तु उससे भी अधिक आवश्यक होता है—अलंकार-प्रयोग का औचित्य, जो स्थान, ढंग, परिस्थिति और उद्देश्य के ऊपर निर्भर रहता है। अर्थात् भव्य से भव्य अलंकार भी उसी स्थिति में उदात्त का पोषक हो सकता है जब उसका प्रयोग स्थान, परिस्थिति, रीति और उद्देश्य के अनुकूल हो। किसी अलंकार का प्रयोग स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वह तो साधन मात्र है। वास्तव में अलंकार-प्रयोग की सार्थकता तो तब है जब वह प्रसंग का सहज अंग बनकर आए और 'इस बात पर भी किसी का ध्यान न जाए कि यह अलंकार है।'[3] स्पष्टतः कला की यही सबसे बड़ी सिद्धि है कि उसके प्रयोग के विषय में प्रमाता को संदेह तक न हो—परवर्ती आलोचना-शास्त्र में इसे ही कला का

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ५३।

२. वही, पृष्ठ ५३।

३. वही, पृष्ठ ७७।

आत्म-गोपन कहा गया है। जब अलंकारों का प्रयोग स्वतंत्र रूप में होने लगता है अर्थात् जब वे साध्य बन जाते हैं तो उनका उद्देश्य ही विफल हो जाता है; इसीलिए लोंगिनुस अलंकार-प्रयोग के लिए यह आवश्यक मानते हैं कि वह साधन-रूप हो, प्रसंगानुकूल हो, अतिचार से मुक्त हो और अयत्नज हो—कम से कम अयत्नज प्रतीत हो : 'क्योंकि कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है।'[1]

उदात्त के पोषक अलंकारों में रूपक के अतिरिक्त लोंगिनुस ने विस्तारणा, शपथोक्ति (संबोधन), प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्नवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि का मनोवैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया है। १. विस्तारणा के तत्त्व हैं विवरण और प्राचुर्य। 'विस्तारणा किसी विषय के समस्त अंगों और अंगभूत प्रसंगों के समुदाय का नाम है जिससे विषय के विस्तार द्वारा युक्ति में बल आता है।'[2] यह अलंकार घटनाओं अथवा युक्तियों को प्रबलता से प्रस्तुत कर सघनता की सृष्टि करता हुआ उदात्त शैली के निर्माण में योगदान करता है। २. शपथोक्ति अलंकार —जिसके लिए लोंगिनुस 'सम्बोधन' नाम को अधिक उपयुक्त मानते हैं—शपथों के द्वारा ओज और विश्वास की सृष्टि करता है। (पृष्ठ ७४)। ३. प्रश्नालंकार में प्रश्नोत्तर की सत्वर परम्परा के द्वारा वक्ता स्वयं ही प्रश्न कर उनका समाधान प्रस्तुत करता है और इस प्रकार उसका वक्तव्य अधिक उदात्त और विश्वासोत्पादक बन जाता है। इस अलंकार में प्रश्न उठाकर अपने आप ही उनका उत्तर दे देने से भावावेग का स्फोट स्वाभाविक जान पड़ता है। (पृष्ठ ७८) ४. विपर्यय और ५. व्यतिक्रम में शब्दों अथवा विचारों के सहज क्रम में उलट-फेर कर दिया जाता है (पृष्ठ ८१)। 'जिस प्रकार मनुष्य वास्तव में क्रोध, भय, मन्यु, ईर्ष्या अथवा किसी अन्य भावना से (क्योंकि आवेग अनेक और असंख्य हैं और उनकी गणना सम्भव नहीं) उत्तेजित होकर कभी-कभी दूसरी ओर मुँह फेर लेते हैं, अपने मुख्य विषय को छोड़कर दूसरे पर लपक उठते हैं और बीच ही में कोई सर्वथा असम्बद्ध बात ले आते हैं, फिर उसी प्रकार अचानक ही तेजी से घूमकर अपने मुख्य विषय पर लौट आते हैं और वातचक्र की भाँति अपने ही वेग से परिचालित होकर जल्दी-जल्दी इधर-उधर बहकते वे अपनी शब्दावली को, विचारों को और उनके सहज क्रम को नाना

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ८२।

२. वही, पृष्ठ ६५।

प्रकार के असंख्य रूपों में बदलते रहते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ लेखक विपर्यय के द्वारा इस सहज प्रभाव को यथासम्भव अभिव्यक्त करते हैं।' (पृ० ८२)

६. पुनरावृत्ति और ७. छिन्नवाक्य का उद्देश्य भी बहुत-कुछ इसी प्रकार का होता है। आत्मा के आवेग और संक्षोभ को व्यक्त करने के लिए इनका महत्त्व असंदिग्ध है क्योंकि इस प्रकार की मनोदशा में अनुक्रम स्वतः ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, संयोजक पदावली की कड़ियाँ टूट जाती हैं और प्रयोक्ता अनायास ही छिन्नवाक्यों और पुनरावृत्तियों का सहारा लेने लगता है। (पृ० ८०)। ८. प्रत्यक्षीकरण में साक्षात् वर्णन की क्षमता रहती है—समस्त वर्ण्य विषय जीवन्त-सा हो उठता है। इस अलंकार का प्रयोग प्रायः पुनरावृत्ति और छिन्न-वाक्य आदि के सहयोग में ही होता है। आवेग की अभिव्यक्ति के अन्य सफल उपकरण हैं—संचयन, सार और रूप-परिवर्तन। संचयन[1] में अनेक तथ्यों का ढेर-सा लग जाता है और १०. सार[2] में वर्ण्य वस्तु की उत्तरोत्तर वृद्धि की अभिव्यंजना रहती है। ११. रूप-परिवर्तन[3] पर लोंगिनुस ने विस्तारपूर्वक लिखा है—यह अलंकार, वचन, काल, पुरुष, कारक और लिंग के परिवर्तन द्वारा विषय के प्रतिपादन में विविधता और सजीवता उत्पन्न करता है। वचन-परिवर्तन के अन्तर्गत एकवचन के लिए बहुवचन के प्रयोग और बहुवचन के लिए एकवचन के प्रयोग की व्यवस्था है। इसी प्रकार काल-परिवर्तन में भूत और भविष्यत् के स्थान पर वर्तमान और वर्तमान के स्थान पर भूत और भविष्यत् का प्रयोग रहता है; आगे चलकर 'ऐतिहासिक वर्तमान' आदि के रूप में इसीका विकास हुआ।[4] पुरुष-परिवर्तन में अन्य पुरुष के लिए प्रायः मध्यम पुरुष के प्रयोग द्वारा (अथवा अन्य प्रकार के विपर्यय द्वारा) 'प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।'—'कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक किसी अन्य व्यक्ति के बारे में बात करते-करते एकाएक बात को काटकर स्वयं अपने आपको उस व्यक्ति का रूप दे देता है।' यही बात कारक और लिंग के परिवर्तन के विषय में कही जा सकती है। इन अलंकारों का प्रयोग ऐसे ही प्रसंगों में करना चाहिए जहाँ विषय के अन्तर्गत विस्तारणा, अतिरिक्त वर्णन, अतिशयोक्ति अथवा भावावेग के लिए अवकाश हो। भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक ने इस प्रकार के रूप-परिवर्तनों का पद-परार्ध-वक्रता के अन्तर्गत अत्यन्त मार्मिक और व्यवस्थित विवेचन किया है। १२. पर्यायोक्ति में बात को प्रकारान्तर से चमत्कार के

१, २, ३. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ८३।

४. वही, पृष्ठ ८५, ८६।

साथ कहा जाता है : जैसे 'मृत्यु' के लिए 'नियत मार्ग' का प्रयोग आदि। लोंगिनुस का मत है कि पर्यायोक्ति का प्रयोग संयम के साथ विवेकपूर्वक करना चाहिए अन्यथा वह एकदम प्रभावशून्य हो जाती है और एक प्रकार का खोखलापन एवं वाग्विस्तार शेष रह जाता है।[1]

इन अलंकारों के अतिरिक्त १३. रूपक और १४. अतिशयोक्ति का भी उदात्त शैली के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग रहता है। कुछ विद्वानों ने रूपकों की संख्या को दो-तीन तक ही सीमित करने की व्यवस्था दी है, परन्तु लोंगिनुस उनसे सहमत नहीं हैं। रूपकों की शृंखला उदात्त आवेग-प्रवाह को व्यक्त करने में प्रायः अत्यंत सफल रहती है। किन्तु यहाँ भी प्रमाण विवेक ही है। अतिशयोक्ति के विषय में और भी सतर्कता की आवश्यकता है क्योंकि उसका असंयत प्रयोग उपहास्य बन जाता है। यह अतिशयोक्ति वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित 'ऊहा' के निकट है—इसकी सार्थकता तभी है जब प्रमाता को इसके अस्तित्व का संदेह तक न हो, जब अतिशय स्वाभाविक ही प्रतीत हो।

उदात्त की सृष्टि में सहायक प्रायः ये ही अलंकार हैं। ये अलंकार पृथक् रूप से तो उपयोगी होते ही हैं—इनकी संसृष्टि की उपयोगिता और भी अधिक होती है क्योंकि विस्तार और प्राचुर्य की सृष्टि कर अनेक अलंकारों का सम्मिलित प्रयोग उदात्त की सृष्टि में प्रत्यक्ष योगदान करता है।

उत्कृष्ट भाषा :

उदात्त शैली का दूसरा प्रमुख तत्त्व है उत्कृष्ट भाषा। लोंगिनुस ने विचार और पद-विन्यास को एक दूसरे के आश्रित माना है।[2] अतएव स्वभावतः उदात्त की अभिव्यक्ति का माध्यम उत्कृष्ट या गरिमामयी भाषा ही हो सकती है। भाषा की गरिमा का मूल आधार है शब्द-सौन्दर्य, जिसका अर्थ है 'उपयुक्त और प्रभावक' शब्द-प्रयोग। 'सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।'[3] और उन्हीं के द्वारा 'प्रत्यक्ष रूप में किसी रचना में सुन्दरतम मूर्तियों की भाँति भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ओज और शक्ति तथा अन्य श्रेष्ठ गुणों का आविर्भाव होता है और मृतप्राय वस्तुएँ जीवन्त हो उठती हैं।'[4] 'किन्तु गरिमामयी भाषा का उपयोग सर्वत्र नहीं करना

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ९०।

२. वही, पृष्ठ ९०।

३. वही, पृष्ठ ९१।

४. वही, पृष्ठ ९१।

चाहिए क्योंकि छोटी-मोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे-से बालक के मुँह पर पूरे आकारवाला त्रासद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है।'[1] अर्थात् गरिमामयी पदावली का उपयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए क्योंकि वस्तु और शब्द के बीच पूर्ण सामंजस्य के बिना उदात्त की योजना सम्भव नहीं है।

गरिमामय एवं ऊर्जित रचना-विधान :

प्राचीन काव्यशास्त्र में रचना-विधान का बड़ा महत्त्व रहा है। स्वयं लोंगिनुस ने अपने किन्हीं दो अन्य निबन्धों में, जो आज अप्राप्य हैं, इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है। रचना का अर्थ है भाषा का सामंजस्य। यह गुण स्वभावजात होता है और यह हमारी श्रवणेन्द्रिय को ही नहीं वरन् हमारी आत्मा तक को प्रभावित करता है। रचना-विधान के अंतर्गत शब्दों, विचारों, कार्यों, सुन्दरता तथा राग के अनेक रूपों का संगुम्फन रहता है। अर्थात् रचना का प्राण-तत्त्व है सामंजस्य, जो उदात्त शैली के निर्माण के लिए अनिवार्य है। यह सामंजस्य वक्ता और हमारे बीच समभाव की स्थापना करता है, 'हमें भव्यता, गरिमा, ऊर्जा तथा अपने भीतर निहित प्रत्येक भाव की ओर प्रवृत्त करता है और इस प्रकार हमारे मन के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है।' शैलीगत रचना-विधान की स्थिति शरीर-रचना के समान है। जिस प्रकार शरीर के अंगों में अलग-अलग रहने पर कोई विशेषता नहीं होती किन्तु सब मिलकर एक समग्र और सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं, इसी प्रकार उदात्त शैली के तत्त्वों को यदि एक-दूसरे से अलग कर दिया जाय तो उनके साथ औदात्त्य भी इधर-उधर बिखर जाता है, किन्तु जब उन सबको मिलाकर एकान्वित कर दिया जाता है और सामंजस्य की एक शृंखला में बाँध दिया जाता है तो उनमें अपनी वर्तुलता के कारण एक प्रकार की 'गरिमा' उत्पन्न हो जाती है।[2]

कल्पना तत्त्व :

उदात्त शैली के तत्त्वों के अंतर्गत ही प्रासंगिक रूप से लोंगिनुस ने बिम्बों का वर्णन करते हुए उनकी निर्मात्री शक्ति कल्पना की ओर भी अप्रत्यक्ष किन्तु स्पष्ट संकेत किया है। उनका कथन है कि 'बिम्ब (या कल्पना-चित्र) भी प्रवक्ता की गरिमा, ऊर्जा और शक्ति के सम्पादन में बहुत-कुछ सहायता करते हैं।'

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ९१।

२. वही, पृष्ठ १०७।

बिम्ब को 'कुछ लोग मानसिक प्रतिकृति भी कहते हैं।' इस मानसिक प्रतिकृति का निर्माण करनेवाली शक्ति का नाम ही कल्पना है। लोंगिनुस ने इसके संबंध में दो महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखे हैं :

१. सामान्यतः बिम्ब (अथवा कल्पना-चित्र) की संज्ञा मन के प्रत्येक ऐसे विचार को दी जाती है जो चाहे किसी रूप में भी प्रकट होने पर वाणी को प्रस्फुरित करता है।

२. पर आजकल यह शब्द मुख्यतः ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त होता है जहाँ उत्साह और आवेग में आकर हम यह सोचते हैं कि जो कुछ हम वर्णन कर रहे हैं उसे साक्षात् देख रहे हैं और अपने श्रोताओं के आगे भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं। (पृ० ६९)।

यहाँ बिम्ब का अर्थ स्पष्टतः कल्पना-चित्र ही है और इनकी प्रेरक शक्ति का नाम कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—इसीलिए लोंगिनुस के अँगरेज अनुवादक—रॉबर्ट्स ने इस स्थल पर 'इमेज' से सन्तुष्ट न होकर 'ऑर इमेजिनेशन' लिख दिया है। अतः इन दो वाक्यों के आधार पर कल्पना का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है : कल्पना उस शक्ति का नाम है जो पहले कवि को वर्ण्य विषय का मनसा साक्षात्कार कराती है और फिर भाषा में चित्रात्मकता का समावेश कर श्रोता के मनःचक्षु के सामने भी उसे प्रत्यक्ष कर देती है।—मैं समझता हूँ कि आज भी कवि-कल्पना-विषयक धारणा इससे भिन्न नहीं है, और इस प्रकार शब्द का यथावत् प्रयोग न करते हुए भी लोंगिनुस ने कल्पना का अत्यन्त स्पष्ट पूर्वाभास दे दिया है।

विरोधी तत्त्व—

उदात्त शैली के स्वरूप को सर्वथा निर्भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लोंगिनुस ने उसके कुछ विपरीत तत्त्वों का भी स्पष्ट निर्देश किया है। औदात्त्य का विपरीत रूप है बालेयता। बालेय शब्द का अर्थ है बचकाना—जिसमें बच्चों के दुर्गुणों का ही प्राधान्य रहता है—जैसे चापल्य, गरिमा का एकान्त अभाव, संयम का अभाव, एक प्रकार की हीनता, कायरता आदि। स्पष्टतया ये ही औदात्त्य के विरोधी तत्त्व हैं—अर्थात् चंचल पद-गुम्फ, असंयत वाक्स्फीति, हीन और क्षुद्र अर्थवाले शब्दों का प्रयोग आदि बालेय शैली के अंग हैं और ये ही उदात्त शैली की बाधाएँ या विरोधी तत्त्व हैं। लेखक के अपने शब्दों में उदात्त शैली के विरोधी तत्त्व इस प्रकार हैं : रुचिहीन वाग्स्फीति, भावाडम्बर, शब्दाडम्बर आदि। वाग्स्फीति से अभिप्राय है अर्थ या भाव की गरिमा के अभाव में अनाव-

श्यक वागाडम्बर का प्रयोग—उदाहरणार्थ 'गृद्ध' जैसे क्षुद्र पदार्थ के लिए 'जीवित-समाधि' शब्द का प्रयोग। भावाडम्बर का अर्थ है 'जहाँ किसी आवेग की आवश्यकता नहीं है वहाँ अवसर के अनुपयुक्त और खोखले आवेग का प्रदर्शन किया जाए अथवा जहाँ संयम की आवश्यकता है वहाँ असंयम दिखाई दे।'[1] शब्दाडम्बर से लोंगिनुस का आशय वास्तव में अत्युक्तिपूर्ण शब्दावली का है जिसके लिए हिन्दी में 'ऊहा' शब्द का प्रयोग होता है, जैसे स्त्री के लिए 'चक्षु-दंश', पुतली के लिए 'आँख की कुमारी' आदि का प्रयोग। इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का विवेकहीन चमत्कार-प्रयोग उदात्त का विरोधी है।—आगे चलकर इन्हीं के आधार पर उदात्त के विपरीत रूप 'उपहास्य'[2] का विवेचन किया गया।

इसी प्रकार अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, अत्यधिक संक्षिप्तता, जड़ाव और संगीत तथा लय का आधिक्य भी उदात्त शैली के लिए घातक सिद्ध होते हैं। अभिव्यक्ति की क्षुद्रता का अर्थ है क्षुद्र अर्थ के वाचक शब्दों का प्रयोग। उदात्त विषय के अनुरूप उदात्त शैली में निकृष्ट और कुत्सित अर्थ के वाचक शब्द 'भाषा पर कलंक-से प्रतीत होते हैं।' साथ ही उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता से भी उदात्तता का ह्रास होता है क्योंकि बहुत ही संकीर्ण घेरे में विचार को ठूँसने से भी गरिमा नष्ट हो जाती है। 'यह आरोप समास शैली के विषय में नहीं है जो कि शैली का गुण है,' 'वरन् ऐसी उक्ति के विषय में है जो सर्वथा क्षुद्र और छोटे-छोटे भागों में खण्डित हो क्योंकि शब्दों की अल्पता अर्थ को संकुचित कर देती है।'[3] यही बात जड़ाव के विषय में है। 'ऐसे शब्द जो एक-दूसरे से बहुत सटे हुए हों, छोटे-छोटे अक्षरों में विभक्त हों और नितान्त विषमता तथा कर्कशता के द्वारा मानो लकड़ी की कीलों से एक-दूसरे के साथ जड़े हों'[4], उदात्त शैली के दूषण होते हैं। और अंत में, लय एवं संगीत का आधिक्य भी उदात्त के प्रभाव को नष्ट कर देता है : इनके कारण उक्ति में एक प्रकार की अतिशय सुकुमारता, कृत्रिमता और एकरसता उत्पन्न हो जाती है और श्रोता का ध्यान विषय-वस्तु से हटकर लय और संगीत पर केन्द्रित हो जाता है।[5]

विवेचन

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर उदात्त के विषय में लोंगिनुस के मत का सारांश यह है :

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ४८।

२. लुडिक्रस।

३, ४, ५. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १०६।

विभाव रूप में उदात्त से अभिप्राय ऐसे विषय का है जो अनन्त विस्तार, असाधारण शक्ति एवं वेग, अलौकिक ऐश्वर्य तथा उत्कट प्रभाव-क्षमता आदि गुणों से सम्पन्न हो।

भाव रूप में उदात्त से तात्पर्य उल्लास, विस्मय, सम्भ्रम आदि संचारियों से पुष्ट, आत्मा का उत्कर्ष करने वाली ऐसी प्रबल अनुभूति का है जो सम्पूर्ण चेतना को अभिभूत कर ले।

शैली के रूप में उदात्त के आधार-तत्त्व हैं—उपयुक्त एवं प्रभावक शब्दों से युक्त उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना-विधान, भव्य योजना और प्रायः अतिशय-मूलक अलंकारों की योजना जिन पर औचित्य का अनुशासन अनिवार्यतः रहना चाहिए।

यूरोप के सौंदर्यशास्त्र में और काव्यशास्त्र में भी उदात्त के विभाव और भाव दोनों पक्षों का विशेष महत्त्व रहा है। उसके भाव-विभाव पक्ष का बर्क ने और आधुनिक युग में आकर ब्रैडले आदि ने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक विवेचन-विश्लेषण किया है और शुद्ध भाव पक्ष का उद्घाटन कान्ट आदि ने। ब्रैडले ने अपने प्रसिद्ध निबंध में[1] विभाव रूप में 'असीम शक्ति' को उदात्त का मूल तत्त्व माना है। विराट् आकार या असीम विस्तार, अतुल वेग आदि भी सामान्यतः उदात्त के साथ सम्बद्ध हैं—किन्तु एक तो वे अनिवार्य नहीं हैं, दूसरे उनका अंतर्भाव भी 'असीम शक्ति' में ही हो जाता है क्योंकि वे सभी शक्ति के ही व्यंजक रूप हैं। उदात्त को सौंदर्यशास्त्र का शब्द मानते हुए उन्होंने उसे व्यापक अर्थ में सौंदर्य का ही एक रूप माना है। स्थूलतः सुन्दर के पाँच भेद किये जा सकते हैं : उदात्त, भव्य, 'सुन्दर', मनोरम (सुष्ठु) और ललित।[2] इनमें से परा कोटि है उदात्त और अपरा कोटि है ललित। सीमित अर्थ में प्रयुक्त 'सुन्दर' की स्थिति मध्यवर्ती है। भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली की सहायता लें तो यह कहा जा सकता है कि सुन्दर की स्थिति बहुत-कुछ प्रसाद गुण की-सी है। जिस प्रकार प्रसाद की स्थिति ओज और माधुर्य में आधार रूप से विद्यमान रहती है, इसी प्रकार 'सुन्दर' का तत्त्व भी एक ओर उदात्त और भव्य में और दूसरी ओर मनोरम तथा ललित में मूलतः विद्यमान रहता है।

---

१. ऑक्सफ़ोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, निबंध संख्या २।

२. क्रमशः सब्लाइम, ग्रैंड, ब्यूटिफ़ुल, ग्रेसफ़ुल और प्रेटी।

ओज और माधुर्य के उत्तरोत्तर समावेश से 'सुन्दर' एक ओर क्रमशः भव्य और उदात्त का और दूसरी ओर मनोरम एवं ललित का रूप धारण कर लेता है।—भावपक्ष में उदात्त की अनुभूति चित्त के उत्कर्ष और विस्तार के रूप में होती है। 'सुन्दर' और उसके अन्य मधुर भेदों की अनुभूति 'प्रीति' के रूप में होती है अर्थात् इस स्थिति में आलम्बन और प्रमाता के चित्त के बीच एक सुखद सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। परन्तु ओज से संवलित भव्य रूप की अनुभूति में प्रमाता के चित्त पर एक आघात-सा लगता है और जैसे उस आघात के ज़ोर से उसकी सीमा का विस्तार होने लगता है। उदात्त का आघात और भी प्रबल होता है और उसके फलस्वरूप चित्त का विस्तार भी उसी अनुपात से अधिक होता है। 'सुन्दर' आदि की अनुभूति में आलम्बन प्रमाता के चित्त के साथ तदाकार हो जाता है और उदात्त की अनुभूति में आलम्बन प्रमाता के चित्त को स्वाकार कर लेता है अतएव उदात्त की अनुभूति में एक प्रकार का आत्म-समर्पण—अभिभूति—अनिवार्य होती है : उसमें प्रीति नहीं उल्लास का भाव रहता है जिसमें सम्भ्रम अर्थात् विस्मय और आदर यहाँ तक कि एक प्रकार का भय भी विद्यमान रहता है।[1]

ब्रैडले के इस विवेचन में एक प्रकार से उदात्त-विषयक आधुनिक धारणाओं का सारांश निहित है। जहाँ तक उदात्त के भाव-विभाव पक्ष का सम्बन्ध है, ये धारणाएँ लोंगिनुस की धारणाओं से मूलतः भिन्न नहीं हैं। विभाव पक्ष के अनन्त विस्तार, असाधारण शक्ति और वेग, अलौकिक ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव-क्षमता आदि जिन गुणों का वर्णन लोंगिनुस ने किया है, ब्रैडले ने भी थोड़े बहुत शब्द-भेद से उन्हें स्वीकार करते हुए 'असीम शक्ति' के रूप में उन्हें एकत्र कर दिया है। इसी प्रकार भावपक्ष के अंतर्गत भी ब्रैडले ने लोंगिनुस का भाष्य मात्र कर दिया है।

पश्चिम के रीतिकारों ने काव्यगत 'भाव' के स्थूलतः चार भेद किये हैं : उदात्त, सुन्दर, करुण और हास्य। इनमें सुन्दर का प्रयोग ब्रैडले द्वारा परि-भाषित सीमित अर्थ में ही हुआ है और उसी रूप में वह उदात्त से भिन्न है। करुण और हास्य उदात्त के विपरीत रूप हैं क्योंकि करुण से चित्त का संकोच और आत्मा का अपकर्ष होता है और हास्य के मूल में क्षुद्रता एवं विकृति रहती है। लोंगिनुस ने इन चार भेदों का पृथक् रूप से कथन नहीं किया किन्तु इनके संकेत अवश्य ही मिल जाते हैं क्योंकि उदात्त के विरोधी तत्त्वों में इनका स्पष्ट

१. ऑक्सफ़ोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, पृष्ठ ३८ और ५२।

उल्लेख है, जैसे 'शोक और दया' को जो करुण के आधार तत्त्व हैं उन्होंने उदात्त का विरोधी माना है और 'बालेय' तथा 'क्षुद्र' वस्तुतः हास्यास्पद से बहुत भिन्न नहीं है।[1] एकाध स्थान पर ऐसा भ्रम होता है कि कदाचित् लोंगिनुस की उदात्त भावना की परिधि अधिक व्यापक है—यथा उन्होंने सैफ़ो जैसी प्रगीत-कवयित्री के प्रेमोद्‌गार को भी उदात्त के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रेमोद्‌गार तो आधुनिक धारणा के अनुसार 'सुन्दर' या 'करुण' के अन्तर्गत आएगा न कि 'उदात्त' के। किन्तु प्रेमावेग के इस उद्‌गार में सौंदर्य या माधुर्य की अपेक्षा वेग और शक्ति का ही आतिशय्य है; और किसी भी भाव के आवेश, वेग एवं शक्ति को माधुर्य या कारुण्य की अपेक्षा औदात्त्य के अंतर्गत ही मानना उचित होगा। ब्रैडले की परिभाषा के अनुसार भी इस उदाहरण को आवेग की अपार शक्ति के विस्फोट के कारण, उदात्त के अंतर्गत मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यहाँ प्रेम की मंदाकिनी का सरस-प्रसन्न प्रवाह न होकर आवेग का ज्वार है और इस ज्वार में आत्मा का उत्कर्ष एवं विस्तार है, संकोच नहीं है—अतः सुन्दर या 'करुण' की अपेक्षा यहाँ उदात्त की स्थिति मानना अनुचित नहीं होगा।

शैलीगत औदात्त्य या 'उदात्त की कला' का विवेचन लोंगिनुस ने अधिक विस्तार के साथ किया है और उसी के आधार पर कदाचित् ऐट्किन्स ने उनकी तत्सम्बन्धी धारणा को प्रचलित धारणा से भिन्न तथा अधिक व्यापक माना है। इसमें संदेह नहीं कि लोंगिनुस ने इस पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया है, किन्तु परवर्ती आलोचना-शास्त्र में भी इसकी उपेक्षा नहीं की गई। शैली के अनेक भेदों में उदात्त शैली का अपना गौरव रहा है, मिल्टन की शैली तो विशेष से सामान्य रूप धारण कर उदात्त शैली का पर्याय ही बन गई है। वास्तव में उदात्त विषय और उदात्त भावना की अभिव्यक्ति की माध्यम उदात्त शैली की प्रकल्पना स्वाभाविक ही थी और परवर्ती आलोचना-शास्त्र में उसका विवेचन प्रायः लोंगिनुस के ही आधार पर किया गया है। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है, लोंगिनुस ने उदात्त शैली के तीन-चार प्रमुख तत्त्व माने हैं: उपयुक्त एवं प्रभावक शब्दों से युक्त उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना-विधान, भव्य बिम्ब-योजना और प्रायः अतिशयमूलक अलंकारों की योजना—और इन सबके लिए औचित्य का अनुशासन अनिवार्य माना है। इनमें से कोई भी तत्त्व

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ५३-५४ और ४७।

या उसका अंग ऐसा नहीं है जो वर्तमान मान्यताओं के विरुद्ध या उनसे भिन्न हो। उपयुक्तता और औचित्य के अनिवार्य महत्त्व के कारण पहले कुछ शंका होती तो है किन्तु बाद में विचार करने पर उसका समाधान हो जाता है क्योंकि आखिर औचित्य और उपयुक्तता का तिरस्कार तो किसी भी उत्कृष्ट काव्य-शैली में सम्भव नहीं। इनके अभाव में तो, जैसा कि स्वयं लेखक ने उदाहरण देकर विस्तार से समझाया है, उदात्त उपहास्य होकर रह जाता है। औचित्य और उपयुक्तता का प्रयोग लेखक ने रूढ़ि के रूप में नहीं किया—औचित्य से यहाँ शैली और परिस्थिति, उद्देश्य आदि के बीच आंतरिक सामंजस्य का ही अभिप्राय है; इसी प्रकार उपयुक्त शब्द-प्रयोग का अर्थ है ऐसे शब्द का प्रयोग जिसके साथ वक्ता या लेखक का 'प्रबल मानसिक संसर्ग हो'। इसी प्रकार अलंकार-योजना के विषय में यद्यपि उन्होंने 'समुचित' विशेषण का प्रयोग किया है, किन्तु यहाँ भी समुचित का अर्थ न तो परम्परा-रूढ़ है और न वह संकीर्ण अर्थ में संतुलित का ही वाचक है। उदात्त शैली के शोभाकारक जिन धर्मों का विवेचन उन्होंने किया है वे प्रायः सभी अतिशयमूलक हैं जिनमें कल्पना के विस्तार और उत्तेजना की अपेक्षा रहती है—विस्तारणा, सार आदि में कल्पना के विस्तार की और शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, छिन्नवाक्य, पुनरावृत्ति आदि में उत्तेजना की। अतः औचित्य और उपयुक्तता का सम्बन्ध शैली के आंतरिक उत्कर्ष से ही है, ये शब्द उसकी बहिरंग परिशुद्धता मात्र के द्योतक नहीं हैं, और इसका अतर्क्य प्रमाण है लोंगिनुस का निम्नोद्धृत वाक्य :

'जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं यह बात अच्छी तरह जानता हूँ कि महान् प्रतिभा, निर्दोषता से बहुत दूर होती है : क्योंकि सर्वाङ्गीण परिशुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है, और औदात्त्य में, जैसा कि विपुल सौभाग्य में भी होता है, कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।'[1] इस प्रकार लोंगिनुस का औचित्य महान् का ही अंग है, वह शुद्ध का वाचक नहीं है, अतः उदात्त के साथ उसकी कोई असंगति नहीं माननी चाहिए।

भारतीय वाङ्मय में उदात्त की परिकल्पना का अभाव नहीं है। भारतीय दर्शन में भगवान् के विराट् रूप की कल्पना और भारतीय काव्य में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि के अनेक वर्णन उदात्त के भव्य निदर्शन हैं। वस्तुतः भारतीय शब्द विराट् उदात्त की समग्र धारणा को व्यक्त करने में अधिक समर्थ है : गीता में प्रदर्शित भगवान् के 'विराट् रूप' (११।९–४४) से

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ९६।

अधिक प्रबल 'उदात्त' का उदाहरण दुर्लभ ही होगा। फिर भी भारतीय काव्य-शास्त्र में उदात्त का विवेचन प्रत्यक्ष एव स्वतंत्र रूप से नहीं किया गया; किन्तु धीरोदात्त नायक, वीर और अद्भुत रस तथा ओज गुण के विवेचन में उदात्त के भाव-विभाव पक्ष की और गौड़ीया रीति के वर्णन में उसके शैली पक्ष की अप्रत्यक्ष विवक्षा अवश्य मिलती है :

धीरोदात्त नायक :—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः ॥ दशरूपक ॥ २ । ४

धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व, अत्यंत गंभीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़ अहंकारवाला तथा दृढ़व्रत होता है।

वीर रस :—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः । सा० द० ३ । २३२
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते । सा० द० ३ । १७१

उत्तम पात्र में आश्रित वीर रस होता है जिसका स्थायी भाव उत्साह है। कार्य के करने में स्थिरतर उत्कट आवेश को उत्साह कहते हैं।

अद्भुत रस :—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो.........। ३ । २४२
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु । ३ । १७६
विस्फारश्चेतसो स विस्मय उदाहृतः ३ । १८०

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय होता है। लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों से उत्पन्न चित्त के विस्तार का नाम विस्मय है।

ओज गुण :—

वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह ।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गताः ॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी । सा० द० ८ । ४, ५, ६ ।

अर्थात् 'चित्त का विस्तार-स्वरूप दीप्तत्व 'ओज' कहाता है। वीर, बीभत्स, और रौद्र रसों में क्रम से इसकी अधिकता होती है। यहाँ भी वीर आदि शब्द उपलक्षण हैं, अतः वीराभास आदि में भी इसकी स्थिति जाननी चाहिए। वर्गों

के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का अगला (चौथा) अक्षर तथा ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर फ से युक्त अक्षर एवं ट, ठ, ड, ढ, श, और ष ये सब ओज के व्यंजक होते हैं। इस प्रकार लम्बे-लम्बे समास और उद्धत रचना ओज का व्यंजन करते हैं। (विमला टीका २६५)।'

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥३॥
समासबहुला गौड़ी············ ॥

ओज को प्रकाशित करनेवाले कठिन वर्णों से बनाये हुए अधिक समासों से युक्त उद्भट बन्ध को गौड़ी रीति कहते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में धीरोदात्त के विवेचन के अंतर्गत महासत्त्व एवं दृढ़व्रत और अद्भुत रस के विवेचन में लोकसीमातिवर्ती जैसे लक्षण उदात्त के विभाव पक्ष का संकेत करते हैं, उधर उत्साह, स्थायी तथा ओज गुण के विवेचन के अंतर्गत संरम्भ, चित्त-विस्तार और दीप्तत्व में भाव पक्ष का निर्देश है, और ओजगुण तथा गौड़ी रीति के लक्षणों में ओजःप्रकाशक वर्ण-योजना, समास-बहुलता, उद्भट बन्ध आदि उदात्त के रीति पक्ष की ओर इंगित करते हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में खण्डशः उदात्त के अधिकांश लक्षणों का अनुसंधान किया जा सकता है, फिर भी उदात्त के समग्र रूप का विवेचन कहीं नहीं है। न केवल वीर उदात्त का पर्याय है और न केवल अद्भुत; वीर में विस्तार की स्थिति अनिवार्य नहीं है और अद्भुत में संरम्भ की। इसी प्रकार ओज गुण में चित्त का विस्तार और दीप्ति दोनों का सद्भाव होने पर भी गरिमा और भव्यता अनिवार्य नहीं है। गौड़ीया रीति के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है—वहाँ इन दोनों गुणों की प्रायः न्यूनता रहती है और इसीलिए अधिकांश आचार्यों ने उसे काव्य की उत्कृष्ट शैली नहीं माना। इस प्रकार उदात्त के समग्र रूप का विवेचन हमारे यहाँ नहीं है, इसमें संदेह नहीं। उदात्त की कल्पना तो हमारे यहाँ थी किन्तु विधान नहीं है। मैं इसे भारतीय काव्य-शास्त्र का एक अभाव ही मानता हूँ क्योंकि औदात्त्य काव्य-कला के गौरव का मानदण्ड है।

सामान्य सिद्धान्त

प्रमुख रूप से उदात्त का प्रतिपादन करते हुए लोंगिनुस प्रसंगवश कला के विषय में कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन भी करते गए हैं जिनके आधार पर उनके कला-दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करना कठिन नहीं है ।

कला और प्रकृति

सबसे पहला और आधारभूत प्रश्न है कला और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध । लोंगिनुस ने कला और प्रकृति में स्पष्ट पार्थक्य माना है । कला शिक्षा, अभ्यास आदि के द्वारा अर्जित गुण है अर्थात् वह वर्तमान शिल्प-विधान की पर्याय है और प्रकृति का अर्थ है जन्मजात शक्ति या प्रतिभा । परिणामतः कला में नियम-विधान की धारणा निहित है और प्रकृति के साथ उन्मुक्त एवं स्वतंत्र शक्ति-प्रसार की परिकल्पना सन्नद्ध रहती है ।[1] इन दोनों की भेद-कल्पना प्रायः इसी प्रकार की धारणाओं पर आश्रित है ।[2] परन्तु भेद का अर्थ विरोध अथवा असम्बन्ध नहीं है—वास्तव में प्रकृति और कला का बड़ा गहरा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । लोंगिनुस ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में प्रकृति और कला की विरोध-कल्पना का खण्डन किया है : 'एक विचारक का कहना है कि उदात्त प्रवृत्ति तो नैसर्गिक होती है और शिक्षा द्वारा उपलब्ध नहीं होती : प्रकृति ही ऐसी कला है जो उसे अपनी परिधि में समेट सकती है । ऐसे लोगों का विचार है कि प्रकृति की रचनाएँ कला के नियमों द्वारा म्लान होकर निकृष्टतर और पूर्णतः दुर्बल हो जाती हैं । पर मेरा विचार है कि यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि प्रकृति की कार्यविधि नियमतः भावावेग और औदार्य के विषय में उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र होते हुए भी मनमानी और पूर्णतः व्यवस्था-विहीन नहीं है, तो वस्तु-स्थिति कुछ भिन्न ही जान पड़ेगी ।'[3]

इसमें सन्देह नहीं कि काव्य में 'प्रकृति सर्वदा ही मौलिक और प्राणभूत तत्त्व के रूप में होती है' किन्तु उसके लिए व्यवस्था और नियम की आवश्यकता भी रहती है : उचित निर्देशन के बिना 'उसकी स्थिति अस्थिर और निराधार' हो जाती है । प्रकृति का मूल आधार प्रेरणा है किन्तु नियंत्रण के बिना वह विकृति बन जाती है । इस प्रकार लोंगिनुस का दृढ़ विश्वास है कि 'कला का

१, २. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ४५ ।

३. वही, पृष्ठ ४५ ।

उपयोग हर प्रकार से प्रकृति का सहायक होता है क्योंकि इन दोनों के योग से ही सम्पूर्णता की उपलब्धि निश्चित हो सकती है।'[1] 'कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है और प्रकृति तभी अपने उद्देश्य में सफल होती है जब उसके गर्भ में कला छिपी हो,[2] इस स्थापना को पुष्ट करने के लिए उन्होंने प्रसिद्ध यूनानी विचारक और वक्ता देमोस्थेनेस का मत उद्धृत किया है: देमोस्थेनेस ने साधारण मानव-जीवन के विषय में यह विचार प्रकट किया है कि सौभाग्य सबसे बड़ा वरदान है अवश्य, 'किन्तु सद्‌बुद्धि जिसका स्थान दूसरा है, महत्त्व में किसी भी प्रकार कम नहीं है क्योंकि उसके अभाव में तो अनिवार्य रूप से सौभाग्य का भी विनाश हो जाता है। इस सिद्धांत को हम काव्यभाषा के क्षेत्र में भी लागू कर सकते हैं जहाँ सौभाग्य का स्थान प्रकृति को प्राप्त है और सद्‌बुद्धि का स्थान कला को।'[3]

इसी प्रसंग में लेखक ने एक और सुन्दर तर्क प्रस्तुत किया है और वह यह कि प्रकृति के महत्त्व का ज्ञान भी तो हमको कला के शिक्षण से ही प्राप्त होता है।[4] अतः यह सिद्ध है कि प्रकृति का महत्त्व कला से निरपेक्ष नहीं हो सकता। यह मान लेने पर भी कि प्रकृति कला से निरपेक्ष नहीं है, यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों का सापेक्षिक महत्त्व क्या है—अर्थात् प्रकृति और कला में किसका महत्त्व अधिक है। इसका उत्तर स्पष्ट है: प्रकृति का। उपर्युक्त उद्धरणों में 'प्रकृति को मौलिक और प्राणभूत आधार-तत्त्व के रूप में' स्वीकार कर, या उसे सौभाग्य के तथा कला को सद्‌बुद्धि के समकक्ष मानकर लोंगिनुस ने निर्भ्रान्त शब्दों में अपना निर्णय दे दिया है।

यह प्रश्न पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र और भारतीय काव्य-शास्त्र दोनों में समय-समय पर उठता रहा है। पश्चिम के काव्य-दर्शन में दो चिंताधाराएँ आरम्भ से ही प्रवाहित रही हैं। एक का उद्‌गम है प्लेटो और दूसरी का अरस्तू। प्लेटो और उनसे प्रभावित परवर्ती स्वच्छन्दतावादी विचारक प्रेरणा को या कहिए आत्मिक प्रेरणा को जीवन की समस्त उपलब्धियों का, विशेषतः काव्य का, मूल स्रोत मानते हैं; उधर अरस्तू और उनसे प्रभावित विचारक प्रतिभा या अन्तःप्रेरणा के प्राथमिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी कला को

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १०२।

२. वही, पृष्ठ ८२।

३. वही, पृष्ठ ४५–४६।

४. वही, पृष्ठ ४६।

विशेष महत्त्व देते हैं। पहले वर्ग में प्लेटो, सिसेरो, दान्ते, शेक्सपियर, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ तथा अन्य रोमानी कवि, रस्किन और क्रोचे आदि आते हैं और दूसरे में अरस्तू, होरेस, बुअलो, पोप और इलियट आदि की गणना की जाती है। लोंगिनुस स्वभाव से प्रथम वर्ग के अधिक निकट हैं; उन पर प्लेटो का प्रभाव गहरा है, परन्तु स्वच्छन्दतावादियों की भाँति वे कला-नियमों की उपेक्षा नहीं करते—उनका विश्वास है कि मूलतः अन्तःस्फूर्त होते हुए भी औदात्त्य को कला के शिक्षण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रकृति और कला के स्थान पर प्रायः समान अर्थ में शक्ति और निपुणता का प्रयोग हुआ है और यहाँ भी इन दोनों के सहयोग और प्रतियोग की चर्चा विस्तार से हुई है। भामह ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा की महत्त्व-प्रतिष्ठा की है—गुरु के उपदेश से शास्त्र का अभ्यास तो जड़बुद्धि भी कर सकते हैं किन्तु काव्य की रचना में केवल प्रतिभावान् ही समर्थ होते हैं। दण्डी ने प्रतिभा का गौरव तो स्वीकार किया है किन्तु निर्मल शास्त्र-ज्ञान और 'अमन्द अभियोग' को भी उचित महत्त्व दिया है। रुद्रट थोड़े और आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने प्रतिभा को भी दो प्रकार का माना है: सहज और उत्पाद्य या आहार्य। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी ने उसे नैसर्गिकी माना है और निपुणता से महत्तर माना है। आनन्दवर्धन ने तो लिखा है कि निपुणता के अभाव का दोष कवि की प्रतिभा द्वारा संवृत हो जाता है। वाग्भट्टादि भी प्रतिभा को काव्य-कारण और निपुणता आदि को उसका भूषण मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा के माहात्म्य का और भी सबल शब्दों में प्रतिपादन किया है और व्युत्पत्ति को उसका पोषक मात्र माना है। इस परम्परा में केवल एक अपवाद हैं आचार्य मंगल, जिन्होंने निपुणता या व्युत्पत्ति को प्रतिभा से महत्तर माना है और आनन्दवर्धन के प्रत्युत्तर में लिखा है: 'कवि की व्युत्पत्ति उसकी अशक्ति का संवरण कर लेती है।' किन्तु मंगल का मत अतिवाद ही है और भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में आनन्दवर्धन का मत ही मान्य रहा है। लोंगिनुस का मत हमारी मान्य परम्परा से भिन्न नहीं है—वस्तुतः भारतीय आचार्यों की भाँति वे भी यही मानते हैं कि प्रकृति अर्थात् प्रतिभा और कला या निपुणता में प्राथमिक महत्त्व प्रतिभा का ही है किन्तु कला के द्वारा उसका उचित पोषण एवं संस्कार होता है।

कला के मूल्य

कला को लोंगिनुस एक प्रकार का मानसिक अनुशासन मानते हैं जिसके द्वारा स्वाभाविक क्षमता का किसी निश्चित स्तर तक विकास किया जा सकता है : 'किन्तु, आश्चर्य है, उसने इस बात का विवेचन कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्य के किसी स्तर तक किस प्रकार उन्नमित कर सकते हैं अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है ।' (पृष्ठ ४३)

उदात्त अभिव्यक्ति—

लोंगिनुस के अनुसार कला का प्राण-तत्त्व है औदात्य जो मूलतः जन्मजात और अन्तःप्रेरणा-रूप होते हुए भी व्यवहार में 'अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है ।' (पृष्ठ ४४) 'अतः उदात्त अभिव्यक्ति कला की पहली आवश्यकता है और इसी के आधार पर श्रेष्ठ कवियों और लेखकों ने अपनी प्रतिष्ठा और अमर यश का अर्जन किया है ।' (पृ० ४४) प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य ही वास्तव में यही है—लेखक ने बड़े विस्तार से आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि उदात्त अंतःप्रेरणाओं को अभिव्यक्त करने के लिए किस प्रकार उदात्त शैली का निर्माण किया जा सकता है क्योंकि इसके बिना उदात्त अंतःप्रेरणाओं का कोई मूल्य नहीं रह जाता ।

शैली की परिशुद्धता और प्रतिभा—

इसमें संदेह नहीं कि लोंगिनुस उदात्त अभिव्यक्ति को प्राथमिक महत्त्व देते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे परवर्ती रीतिवादियों की भाँति शैली की परिशुद्धता को कला का अनिवार्य या सर्वश्रेष्ठ गुण मानते हैं । उन्होंने काव्यालोचन का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठाकर निर्भ्रान्त शब्दों में उसका समाधान किया है :

'हमें कविताओं और गद्य-रचनाओं में किस बात को अधिक महत्त्व देना चाहिए : गरिमा को जिसके साथ कुछ न कुछ दोष भी लगे हों अथवा ऐसी सफलता को जो साधारण हो पर साथ ही हर तरफ़ से ठीक-ठाक और सर्वथा दोष-मुक्त हो ।'[1]

दूसरे शब्दों में काव्य के मूल्यांकन का मूल आधार क्या है—शैल्पिक निर्दोषता या प्रतिभा का उद्रेक ? लोंगिनुस का स्पष्ट उत्तर है : प्रतिभा का

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ६५-६६ ।

उद्रेक। और उनका तर्क इस प्रकार है :

'जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं यह बात अच्छी तरह जानता हूँ कि महान प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्त्य में, जैसा कि विपुल सौभाग्य में भी होता है, कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि निम्न और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति नियमतः विनिपात से मुक्त होते हैं और अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहते हैं क्योंकि वे कभी भी शिखर पर चढ़ने का साहस नहीं करते। दूसरी ओर महान् प्रतिभावान् व्यक्तियों के लिए—उनकी महानता के कारण ही सदा बड़ा खतरा बना रहता है।'[1]

लोंगिनुस का तर्क दोहरा है :

(१) पूर्ण शुद्धता अथवा निर्दोषता क्षुद्रता की परिचायक है क्योंकि शुद्धता पर दृष्टि केन्द्रित रखने वाला व्यक्ति अधिक सावधानी बरतने के कारण प्रायः सशंक और साहसहीन हो जाता है। वह सुरक्षा के लिए इतना अधिक व्यग्र रहता है कि कोई भी जोखम उठाने का साहस नहीं करता, जो शिखर पर चढ़ने का साहस ही नहीं करता उसे विनिपात का भय कैसा :

गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में।
वह तिफ़्ल क्या गिरे कि जो घुटनों के बल चले ?

इस प्रकार के व्यक्ति सदा नीचे की ओर ही देखते हैं, ऊँचाई की ओर नहीं—अतः उनका दृष्टिकोण प्रायः क्षुद्र और संकीर्ण हो जाता है। इसलिए अतिशय परिशुद्धता की स्पृहा में क्षुद्रता की आशंका रहती है।

(२) प्रतिभा के उद्रेक में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह जाती है। प्रतिभा की स्थिति विपुल सौभाग्य के समान है—जिस प्रकार सौभाग्य के प्राचुर्य में कुछ न कुछ दोष अनिवार्यतः रह जाते हैं, इसी प्रकार प्रतिभा के वैभव में भी छोटी-मोटी कमियाँ अनिवार्यतः रह जाती हैं। प्रतिभावान् व्यक्ति की दृष्टि सदा ऊँचाई की ओर रहती है—वह असाधारण विषयों को ग्रहण करता है। उसके स्वभाव में साहस का प्राबल्य होने के कारण साधारण के प्रति एक प्रकार का उपेक्षा-भाव रहता है। अतः प्रतिभावान् व्यक्तियों के लिए उनकी महानता के कारण ही सदा छोटे-मोटे दोषों का खतरा बना रहता है। उदाहरण के लिए होमर अथवा अन्य प्रथम कोटि के कवियों का काव्य इसका प्रमाण है : उनके काव्य का विस्तार, उनके विषय की गरिमा, विचारों की बुलन्दी, धारणाओं की

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ६६।

उदात्तता आदि उन्हें सामान्य बातों की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं देती। स्वभावतः उनकी कृतियों में अनेक छोटे-मोटे दोष ढूँढ़े जा सकते हैं। किन्तु इन दोषों से उनके गौरव के मूल्यांकन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उनकी प्रतिभा की ज्वाला में इस प्रकार के दोष क्षण भर में भस्म हो जाते हैं।[१]

इसीलिए निर्दोष शिल्प-सौन्दर्य और सदोष प्रतिभा-विस्तार इन दोनों में स्पर्धा का कोई प्रश्न ही नहीं है : पहला मध्यम कोटि के कवियों का गुण है और दूसरे की स्थिति कतिपय असाधारण कवियों में ही होती है।

इसी प्रसंग में लोंगिनुस ने एक और प्रश्न उठाया है : 'साहित्य में किसका महत्त्व अधिक मानना चाहिए—बहुसंख्यक गुणों का अथवा उच्च कोटि के गुणों का ?'[२] इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने यूनान के लेखकों—ह्यु पेरिदेस और देमोस्थेनेस की तुलना के द्वारा प्रस्तुत किया है। ह्यु पेरिदेस में देमोस्थेनेस की अपेक्षा 'स्वर-वैचित्र्य और गुणों की संख्या कहीं अधिक हैं।' उसकी रचनाएँ चरित्र-चित्रण की कुशलता, वाग्वैदग्ध्य, परिष्कृत अपहास, अभिजात सहजता, सुनिर्दिष्ट तीखा व्यंग्य और समस्त रचना को एक प्रकार का अनुकरणीय सौंदर्य प्रदान करने की क्षमता आदि अनेक गुणों से भरपूर हैं। किन्तु ये सभी गुण मध्यम कोटि के हैं—उसमें ऐसा गुण कोई भी नहीं है जो उत्तम कोटि का हो, जिसके क्षेत्र में वह अद्वितीय हो। 'वह एक ऐसे खिलाड़ी की भाँति है जो हर क्षेत्र में मीर बनते-बनते रह जाता है।' इसके विपरीत देमोस्थेनेस में इनमें से अधिकांश गुणों का अभाव है : चरित्र-चित्रण में वह निपुण नहीं है, सहज गुण उसमें नहीं हैं, न नम्यता है। जहाँ वह प्रयत्नपूर्वक परिहासमय अथवा मनोरंजक बनने का प्रयत्न करता है, वहाँ हास्य उत्पन्न करने की जगह स्वयं ही हास्यास्पद बन जाता है और जब वह सौंदर्य के समीप पहुँचने का प्रयत्न करता है तो उससे और भी दूर चला जाता है।[३] किन्तु फिर भी ह्यु पेरिदेस की देमोस्थेनेस से क्या समता ? ह्यु पेरिदेस में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों, उसमें औदात्त्य का अभाव है—उधर 'देमोस्थेनेस मानो किसी भण्डार से निकाल कर ऐसे गुणों की झड़ी लगा देता है जो भव्यतम उदात्त भाव से सम्बद्ध हैं और जो उत्कृष्टतम कोटि के हैं : जैसी ओजस्वी वाग्मिता, जीवंत आवेग, प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति तथा ऐसी शक्ति और वेग जिसकी

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ९७।
२. वही, पृष्ठ ९६।
३. वही, पृष्ठ ९८-९९।

समता करना संभव नहीं।'[1] ह्यु पेरिदेस के गुण जहाँ शैली-शिल्प से सम्बद्ध तथा साधारण कोटि के हैं, वहाँ देमोस्थेनेस के गुण असाधारण हैं—वे मानवीय न होकर अलौकिक हैं। अतः संख्या में कहीं कम होने पर भी प्रभाव में उतने ही अधिक होने के कारण, देमोस्थेनेस के गुण ही अधिक काम्य हैं और उनके आधार पर सब मिलाकर देमोस्थेनेस ह्यु पेरिदेस की अपेक्षा कहीं महान् है। संक्षेप में, एक तो प्रातिभ गुण हैं जो आत्मा की ऊर्जा के प्रोद्भास हैं और दूसरे शैल्पिक गुण हैं जो शिक्षा-संस्कार आदि के परिणाम हैं। लोंगिनुस का दृढ़ मत है कि प्रथम कोटि के गुणों का ही महत्त्व अधिक है—द्वितीय कोटि के गुण संख्या में अधिक होने पर भी प्रभाव आदि में हीनतर होते हैं। अतः मूल्यांकन का वास्तविक आधार प्रातिभ गुण ही हो सकते हैं—शैल्पिक गुण नहीं।

उपर्युक्त विवेचन में शास्त्रीय आलोचना से भिन्न स्वच्छन्दतावादी आलोचना का बीज निहित है। शास्त्रीय आलोचना में जहाँ अंगों का विश्लिष्ट परीक्षण होता है, वहाँ स्वच्छन्दतावादी आलोचना में अंगी की समग्र रूप में संश्लिष्ट समीक्षा की जाती है। शास्त्रीय आलोचक का ध्यान रचना के बहिरंग पर केन्द्रित रहता है, जब कि स्वच्छन्दतावादी आलोचना काव्य के आत्मभूत अंतरंग तत्त्वों और उनके सारभूत प्रभाव को ही महत्त्व देती है। शैल्पिक परिशुद्धता या दोषाभाव और गुणाधिक्य ये दोनों स्तरीय मूल्य हैं, किन्तु अंतःप्रेरणा, उदात्त आवेग, आत्मिक ओज आदि काव्य के तात्त्विक मूल्य हैं—अतएव इन्हीं पर निर्भर रहना समीचीन है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी यह प्रश्न सामने आया है। प्रारम्भिक देहवादी आचार्य वामन आदि ने काव्य-सौंदर्य का उद्भव दोष के त्याग और गुणालंकार के आदान से ही माना है:

सौन्दर्यमलंकारः॥ स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। (काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिः १।१—२-३)।

उनकी वस्तुनिष्ठ काव्य-दृष्टि बहिरंग पर ही केन्द्रित रही है अतः उनकी सौंदर्य-कल्पना दोषों के परित्याग और गुणालंकार के समावेश तक ही सीमित रही है। इसी के आधार पर आगे चलकर मम्मट ने अदोषता एवं सगुणता को काव्य के लक्षण में अनिवार्य रूप से अंतर्भूत कर लिया है:

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश।' १।४।

मम्मट की इस परिभाषा का विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि परवर्ती

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ६६।

आचार्यों ने उग्र विरोध करते हुए सगुणता तथा अदोषता दोनों की अनिवार्यता का खण्डन किया है।[1] विश्वनाथ ने रस को आत्मा मानते हुए उसके सद्भाव को ही कवित्व का प्रमाण माना है और इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति को काव्य का प्राण घोषित किया है। हमारे यहाँ भी 'अहो निर्दोषता महान् गुणः' की अनुगूंज कभी-कभी सुनाई पड़ती रही है। किन्तु आत्मवादी आचार्यों ने भावात्मक दृष्टिकोण को ही ग्रहण करते हुए एक तो दोष की स्थिति को सापेक्षिक माना है अर्थात् यह माना है कि विशेष अवस्था में वह दोष नहीं रहता—यहाँ तक कि गुण भी बन जाता है, दूसरे उसके अभाव मात्र को काव्य का विधायक तत्त्व कभी नहीं माना। लोंगिनुस, इस प्रकार, भारतीय दृष्टि से वामन आदि देहवादी आचार्यों से सर्वथा भिन्न आनन्दवर्धन, जगन्नाथ आदि आत्मवादी आचार्यों की कोटि में ही आते हैं।

कला का प्रयोजन

कला के प्रयोजन के विषय में लोंगिनुस की मान्यता उनके मूल सिद्धान्त के अनुरूप ही है। कला का उद्देश्य उनके अनुसार, अनुनय या मनोरंजन करना नहीं है—पारिभाषिक शब्दावली में शिक्षा या प्रीति नहीं है—वरन् आत्मा का उत्कर्ष है। विधि-निषेध के आधार पर सत्-असत् का ज्ञान प्रदान करना, कौतूहल उत्पन्न करना, या ऐन्द्रिय आनन्द की सृष्टि करना कला के लिए पर्याप्त नहीं है। कला की प्रेरणा तो अधिक उदात्त होती है: कवि की आत्मा से ही कला की उद्भूति होती है, अतः सहृदय की आत्मा की उदात्त अनुभूतियों को उद्दीप्त करना ही उसकी सिद्धि है।

कला का आधार : नैतिक या अनैतिक ?—

निबंध के अंत में लोंगिनुस ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में काव्य के नैतिक आधार की प्रतिष्ठा की है। अपनी स्थापना के पूर्व-पक्ष के रूप में उन्होंने काव्य के राजनीतिक आधार का भी मनोयोगपूर्वक विवेचन किया है। यूनान की साहित्यिक परम्परा में सिसेरो आदि अनेक विचारकों का यह विश्वास था कि साहित्य और कला का स्वतंत्रता से सहज सम्बन्ध है: '××× प्रतिभा की धात्री जनतंत्र व्यवस्था ही है और साहित्यिक क्षमता का उत्थान-पतन जनतंत्र और

---

१. देखिए साहित्यदर्पण विमला टीका (१९५६) पृ० १२-१४ और रसगंगाधर [हिन्दी अनुवाद (चौखम्बा) १९५५] पृ० २१-२३।

केवल जनतंत्र के साथ होता रहता है।[1] इस मान्यता की पुष्टि में तीन तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१. स्वतंत्रता में उन्नतमना व्यक्तियों की कल्पना को परिपुष्ट करने और आशा को प्रेरणा देने की शक्ति है।

२. जनतंत्र-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा का विकास करने और उसके आधार पर मूर्धन्य स्थान प्राप्त करने की स्वतंत्रता रहती है। इस प्रकार की स्पर्धा से व्यक्ति के गुण मानो रगड़ खाकर चमक उठते हैं और नैत्यिक जीवन में स्वतंत्र भावना के आलोक से जगमगाते रहते हैं।

३. इसके विपरीत परतंत्रता में सामान्य जीवन की भाँति प्रतिभा भी बंधन में जकड़ जाती है और उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है।

४. दासता से (चाहे वह कितनी ही न्याय-सिद्ध क्यों न हो) उदात्त भावनाओं का क्षय हो जाता है और मानव-मन रूढ़ रीतियों में जकड़कर ऊर्जा से वंचित हो जाता है।

इस प्रकार साहित्य के राजनीतिक आधार को पूर्व-पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर लोंगिनुस अपने सिद्धान्त पक्ष का प्रस्थापन करते हैं। उनका मत यह है कि साहित्य का आधार मूलतः राजनैतिक न होकर नैतिक ही होता है—साहित्यिक प्रतिभा का उत्थान-पतन जनतंत्र या राजतंत्र पर निर्भर न रह कर चारित्र्य पर—नैतिक आचार-विचार पर ही निर्भर करता है।

'किन्तु विचार कीजिए, कहीं यह तो सत्य नहीं है कि महान् प्रतिभा को संसार की शांति नहीं, बल्कि यह अनन्त युद्ध ही नष्ट करता है जिसने हमारी इच्छाओं को जकड़ लिया है और इससे भी अधिक घातक हैं हमारे वे भावावेग जिन्होंने वर्तमान युग को जैसे सेना का जाल बिछाकर अधिकृत कर रखा है और जो उसे निरंतर संत्रस्त कर लूट-खसोट रहे हैं। क्योंकि धन के प्रेम ने (जिस रोग से आज हम सभी बुरी तरह ग्रस्त हैं) और विषय-भोग के प्रेम ने हमें अपना दास बना लिया है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि हमारे शरीर और आत्मा दोनों को अतल गर्त में डुबा दिया है। धन का प्रेम ऐसा रोग है जो मनुष्य को क्षुद्र बनाता है और विषय-भोग का प्रेम उसे निकृष्ट से निकृष्ट बनाता है।'[2]

धन-लिप्सा और विषय-लिप्सा से अन्य दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं: जैसे

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ११२।

२. वही, पृ० ११३-११४।

आडम्बर, दम्भ और विलास—और इनसे धृष्टता, नियमहीनता और निर्लज्जता आदि का जन्म होता है। इन दुर्गुणों के कारण 'मनुष्यों में दृष्टि ऊपर उठाने अथवा यश की कामना करने की कोई क्षमता नहीं रहती। ऐसा जीवन अंत में अपने चरम विनाश को प्राप्त होता है, आत्मा की ऊर्जा फीकी पड़ जाती है, मुरझा कर झड़ जाती है और घृण्य हो जाती है।'[1]

लोंगिनुस का आशय यह है कि प्रतिभा का ह्रास या विकास पराधीनता अथवा स्वाधीनता के कारण नहीं, वरन् समाज के नैतिक स्तर के उत्थान-पतन के कारण होता है। उदाहरण के लिए उनके अपने युग में प्रतिभा का ह्रास इसलिए नहीं हुआ कि उस समय जन-तंत्र व्यवस्था नहीं रह गई थी वरन् इसलिए कि समाज का नैतिक स्तर गिर गया था। उस समय उच्चतर आदर्शों का लोप हो गया था, जीवन के हीनतर मूल्य जैसे धन का मोह, विषय-लिप्सा, विलास-प्रियता, आडम्बर आदि का प्रचार था और परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, परहिंसा आदि कुत्सित वृत्तियाँ उभर रही थीं। इस प्रकार नैतिक और आत्मिक अपकर्ष के युग में काव्य-प्रतिभा का अपकर्ष स्वाभाविक ही था, क्योंकि 'महान् शब्द उन्हीं के मुख से निस्सृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों'।[2] वास्तव में लोंगिनुस की यह स्थापना उनकी इस मूलभूत स्थापना का ही विस्तार है कि 'औदात्त्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।'

उपर्युक्त स्थापना अपने आप में सर्वथा स्पष्ट है, अतः और अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं। साहित्य के राजनीतिक आधार की अपेक्षा नैतिक आधार ही अधिक मान्य है, इसमें संदेह नहीं, क्योंकि नैतिक का ग्रहण लोंगिनुस ने संकीर्ण और रूढ़ अर्थ में—विधि-निषेध-परक अथवा आचारमूलक अर्थ में—नहीं किया। नैतिक से आशय स्पष्टतः आध्यात्मिक का ही है जिसके द्वारा मानव-आत्मा की उदात्त वृत्तियों का उत्कर्ष अभिप्रेत है। किन्तु यह स्वीकार कर लेने के बाद भी एक प्रश्न उठता है : क्या आत्मा के उत्कर्ष का स्वतंत्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या स्वाधीनता में आत्मा का उत्कर्ष और पराधीनता में उसका अपकर्ष नहीं होता ? अतः जो विचारक स्वाधीनता को प्रतिभा का प्रकाशक और दासता को उसका घातक मानते हैं, उनके मत का इतनी आसानी से खण्डन नहीं किया जा सकता। प्रतिभा के विकास के लिए आत्मा

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ११४।

२. वही, पृष्ठ ५५।

के उत्कर्ष को प्रमाण मानकर भी स्वाधीनता का महत्त्व नष्ट नहीं होता। किन्तु यहाँ स्वाधीनता-पराधीनता का ग्रहण स्थूल राजनीतिक अर्थ में नहीं करना चाहिए : राजनीतिक पराधीनता के युग में भी प्रथम कोटि की प्रतिभा का विकास सम्भव है यदि समाज का मन परतंत्र नहीं है, और यदि समाज का मन दासवृत्ति को स्वीकार कर लेता है तो तथाकथित राजनीतिक स्वतंत्रता भी प्रतिभा का उत्कर्ष नहीं कर सकती। कभी-कभी परतंत्र अवस्था में भी किसी देश की प्रतिभा चमचमा उठती है। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शती का अंतिम चरण और बीसवीं शती का पूर्वार्ध, राजनीतिक पराधीनता के रहते हुए भी, भारतीय प्रतिभा के विकास का स्वर्णयुग है; किन्तु इसका कारण यह है कि भौतिक दृष्टि से पराधीन होते हुए भी भारत की आत्मा इस युग में प्रतिभा के 'उस सुन्दर और उर्वर स्रोत—स्वतंत्रता' का आस्वादन कर चुकी थी। इसी प्रकार दासता से अभिप्राय राजनीतिक-आर्थिक बंधनों का नहीं है, वरन् मन की दासता का है जो भौतिक स्वाधीनता के युग में भी प्रतिभा को पंगु कर देती है। अतः स्वाधीनता और पराधीनता को व्यापक एवं आंतरिक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए, कोरे राजनीतिक-आर्थिक अर्थ में नहीं—और इस अर्थ में प्रतिभा के उत्कर्ष के साथ उसका सम्बन्ध न मानना समीचीन नहीं होगा। लोंगिनुस ने स्वतंत्रता का प्रयोग संकुचित राजनीतिक अर्थ में अर्थात् जनतंत्र के संदर्भ में किया है; और तत्कालीन नैतिक विकृतियों को देखते हुए दृढ़तर नियंत्रण (राजतंत्र) की सिफ़ारिश की है। उस युग की राजनीतिक स्थिति और उस पर आश्रित मान्यताओं के प्रकाश में इस तथ्य को समझना बहुत कठिन नहीं है, फिर भी ऐसा अवश्य लगता है जैसे यह मान्यता लोंगिनुस के सम्पूर्ण दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती। व्यक्ति की स्वतंत्रता के दुरुपयोग के लिए उत्तरदायी कारणों का निराकरण न कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ही निषेध करना कम-से-कम लोंगिनुस के अनुरूप नहीं है।

सार्वभौम और सार्वकालिक प्रतिमान—

कला के नैतिक तथा आध्यात्मिक आधार के प्रति आस्था का स्वाभाविक परिणाम है—कला के सार्वभौम और सार्वकालिक प्रतिमानों में विश्वास क्योंकि जिस कला का उद्भव और विकास आत्मा के उत्कर्ष पर आश्रित हो और जिसका उद्देश्य भी आत्मिक उल्लास हो, उसका मूल्य एकदेशीय या एकयुगीन नहीं हो सकता। इसलिए लोंगिनुस ने कला के उन्हीं उदाहरणों को श्रेष्ठ और सच्चा माना है 'जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें, क्योंकि जब

विभिन्न रुचियों, वृत्तियों, महत्त्वाकांक्षाओं, अवस्थाओं और भाषाओं के व्यक्तियों का किसी एक ही विषय पर एक-सा मत हो, तो यह निर्णय, जो एक प्रकार से अनेक परस्पर-विपरीत तत्त्वों के समन्वय से प्राप्त होता है, आलोच्य वस्तु के प्रति हमारी आस्था को अत्यंत पुष्ट और अटल बना देता है।'[1] यह शाश्वत और सार्वभौम प्रभाव-प्रसाद-क्षमता ही काव्य का चरम मूल्य है और कवियशः-प्रार्थी को इसकी कामना करनी चाहिए :

"यदि हम यह प्रश्न भी और जोड़ लें तो प्रोत्साहन और भी अधिक होगा : 'मेरी इस प्रकार की रचनाओं को आनेवाला प्रत्येक युग किस प्रकार से ग्रहण करेगा ?' किन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसी बात करने के विचार तक से घबराता हो जो स्वयं उसके जीवन और युग की सीमा का अतिक्रमण कर सके, तो उसकी धारणाओं को निश्चय ही अपूर्ण, दृष्टिहीन, और एक प्रकार से समय से पूर्व उत्पन्न मानना चाहिए क्योंकि उनमें किसी भी भाँति ऐसी परिपूर्णता नहीं होगी जो भावी युगों में कीर्ति-प्रसार के लिए आवश्यक है।"[2]

सहृदयता—

यहाँ यह शंका हो सकती है कि सार्वभौम का अर्थ सार्वजनिक तो नहीं है। किन्तु इस विषय में लोंगिनुस का मत स्पष्ट है : वे निश्चित रूप से काव्य को ऐसे व्यक्तियों की वस्तु मानते हैं जो अपनी शिक्षा-संस्कृति के कारण उसके अधिकारी हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि काव्य की परख 'सुदीर्घ अनुभव के बाद ही हो सकती है।'[3] अर्थात् वे काव्यास्वाद और काव्यालोचन के लिए शास्त्रीय अर्थ में *'सहृदयता' (परिष्कृत रुचि और शिक्षित संस्कार) को ही प्रमाण मानते हैं कोरी भावुकता या जन्मजात रसिकता मात्र को नहीं। अतः सार्वभौम और सार्वकालिक का अर्थ है सभी देशों और युगों के सहृदय-समाज को प्रभावित करने वाला।*

अमर काव्य की प्रेरणा—

इस सिद्धि के यों तो अनेक मार्ग हैं किन्तु एक सीधा मार्ग है 'पूर्ववर्ती महाकवियों और लेखकों के अनुकरण और स्पर्धा का'—दूसरे शब्दों में अमर काव्यादर्शों के अनुसरण का। लोंगिनुस ने इस पर बड़ा बल दिया है और

---

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ ५३

२. वही, पृष्ठ ६६

३. वही, पृष्ठ ५१

ऐट्किन्स ने उन्हें इसी के आधार पर आभिजात्यवादी घोषित कर दिया है। वास्तव में प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति लोंगिनुस का भाव ठीक उसी प्रकार का नहीं है जैसा कि परवर्ती काव्यशास्त्रवादियों का था। अनुकरण शब्द का प्रयोग उन्होंने किया अवश्य है, पर रूढ़ अर्थ में नहीं, उनका अभिप्राय प्रेरणा-ग्रहण का ही है। 'स्पर्धा' शब्द इसी का द्योतक है—और उन्होंने स्पष्ट लिखा है: 'मेरे मित्र, यह ऐसा उद्देश्य है जिसके प्रति हमें निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि बहुत-से व्यक्ति दूसरों की आत्मा से इतने प्रभावित हो जाते हैं मानो उन्हें स्वयं प्रेरणा मिली हो।'[1] अतः यह प्रभाव वस्तुगत न होकर आत्मगत ही है—अर्थात् लोंगिनुस का अभिप्राय यह है कि उदीयमान लेखक अमर काव्यों के साथ जीवन्त सम्पर्क स्थापित करे जिससे उन अमर कवियों की प्रतिभा की ज्योति से उसकी अपनी प्रतिभा की दिव्य ज्योति जगमगा उठे:

'क्योंकि ये महापुरुष हमारे सामने प्रकट होकर, हमारे उत्साह को प्रज्वलित कर किसी गूढ़ रीति से हमारे मस्तिष्क को औदात्त्य के उन स्तरों तक ले जाएंगे जो हमारे भीतर बिम्बित हैं।'[2]

आप देखें कि उपर्युक्त उद्धरण में काव्य के उपकरणों का—कल्पना-चित्र, भाव-बिम्ब, शब्दावली आदि का ग्रहण अभीष्ट नहीं है: लोंगिनुस तो दीपक से दीपक जलने की बात करते हैं। उनके मतानुसार उदीयमान कवि को काव्य-रचना के समय यह कल्पना करनी चाहिए कि होमर और देमोस्थेनेस जैसे महा-रथियों की आत्माएँ निर्णायक रूप में हमारी कृति का न्याय-विचार कर रही हैं। निश्चय ही ये सब तथ्य अमर कवियों के साथ आत्मिक सम्बन्ध की ही प्रस्थापना करते हैं, रूढ़ अनुकरण की नहीं। यह प्रस्थापना सत्रहवीं-अठारहवीं शती के नव्यशास्त्रवादियों की धारणा से भिन्न तो है ही—आत्म-तत्त्व की दृष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता से भी एक क़दम आगे है।

मूल्यांकन

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में लोंगिनुस की कीर्ति अमर है। प्राचीन काव्यशास्त्र में अर्थात् यूनानी-रोमी आचार्यों में अरस्तू के बाद प्रायः उन्हीं का नाम आता है। लोंगिनुस के आलोचकों में उनके मूल दृष्टिकोण को लेकर तीव्र मतभेद है: स्कॉट जेम्स ने जहाँ उन्हें पहला रोमानी या स्वच्छन्दतावादी आलोचक कहा है, वहाँ ऐट्किन्स उन्हें अंतिम आभिजात्यवादी आलोचकों की परम्परा में स्थान

१. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १९

२. वही, पृष्ठ ६८

देते हैं।[1] सामान्यतः इस विवाद में पड़ना अधिक लाभप्रद नहीं है क्योंकि पश्चिमी आलोचना-शास्त्र के इन दोनों शब्दों का अर्थ सर्वथा स्पष्ट और निश्चित नहीं है। फिर भी लोंगिनुस के उचित मूल्यांकन के लिए उनके दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रस्तुत निबंध के अध्ययन से यह निर्विवाद है कि लोंगिनुस के विवेचन में वस्तु-तत्त्व की अपेक्षा आत्म-तत्त्व की प्रधानता है। यद्यपि उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ 'उदात्त की कला' का विश्लेषण किया है और इसकी 'साधना' का भी उचित विधान किया है, फिर भी उनके सम्पूर्ण सिद्धान्त-प्रतिपादन में आत्म-तत्त्व का स्थान ही प्रमुख रहा है। प्रतिभा का प्राथमिक महत्त्व, काव्य की सर्जना में अंतःप्रेरणा का प्राधान्य, काव्य का आध्यात्मिक आधार, काव्य-प्रयोजन के रूप में आत्मा के उत्कर्ष पर बल, शैली के विभिन्न तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि तथ्य इस मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। प्राचीन अमर काव्य के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी—उदीयमान कवि के लिए उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में अमर काव्यादर्श को ग्रहण करने की व्यवस्था दी है; किन्तु, जैसा कि मैंने अभी सिद्ध किया है, उनका बल प्रेरणा-ग्रहण पर ही अधिक रहा है : जिस आवेश के साथ उन्होंने अमर कवियों की आत्मा के साथ जीवन्त सम्पर्क स्थापित करने का आग्रह किया है, वह परम्परावाद के अन्तर्गत नहीं आ सकता। यह तो प्राचीन के प्रति रोमानी दृष्टिकोण का ही द्योतक है जिसे प्रत्येक युग के स्वच्छन्दतावादी कवि बड़े उच्छ्वास के साथ व्यक्त करते रहे हैं। अतः यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रस्तुत निबंध का मुख्य प्रतिपाद्य उदात्त शैली का विवेचन है, लोंगिनुस के मूलभूत दृष्टिकोण के विषय में तो स्कॉट जेम्स का ही मत मान्य रहेगा। प्लेटो के आत्मवाद से प्रेरित लोंगिनुस रोमानी (स्वच्छन्दतावादी) आलोचना-परम्परा के पहले आचार्य हैं, इसमें संदेह के लिए विशेष अवकाश नहीं है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण अरस्तू के दृष्टिकोण से भिन्न है। जैसा कि ऐट्किन्स ने लिखा है, अरस्तू के शांत-स्थिर बुद्धिवाद और उस पर आश्रित वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से भिन्न लोंगिनुस का दृष्टिकोण आत्मनिष्ठ, उच्छ्वासपूर्ण और कल्पना-प्रधान है। सब मिलाकर तो, अरस्तू से उनकी क्या तुलना ? अरस्तू का दृष्टिकोण अधिक विशद और व्यापक है। उनकी तर्क-पद्धति अधिक पूर्ण एवं विवेक-पुष्ट है, और आधार कहीं अधिक सर्वांगीण तथा सुदृढ़ है। लोंगिनुस का विवेचन उच्छ्वासपूर्ण और

---

१. देखिए दि मेकिंग ऑफ़ लिटरेचर, पृष्ठ ८०, और लिटरेरी क्रिटिसिज़्म इन एंटिकिटी, पृष्ठ २५१

मौलिक होते हुए भी उसकी तुलना में एकांगी और अपूर्ण है। किन्तु अरस्तू से वे एक बात में आगे हैं : अरस्तू द्वारा प्रतिपादित काव्यानन्द जहाँ चित्त के वैशद्य रूप होने के कारण अभावात्मक ही रह जाता है वहाँ लोंगिनुस द्वारा निरूपित काव्यानन्द आत्मा के उल्लास या उत्कर्ष रूप होने के कारण भावात्मक है, और इस दृष्टि से वह भारतीय रस-सिद्धान्त के अधिक निकट है।

परन्तु लोंगिनुस का सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। विभाव पक्ष में उदात्त की महत्ता का प्रतिपादन कर और भाव पक्ष में मन की ऊर्जा एवं आत्मा के उत्कर्ष की महत्त्व-प्रतिष्ठा कर उन्होंने काव्य के प्रबल तत्त्वों की ओर आलोचक का ध्यान आकृष्ट किया इसमें संदेह नहीं, किन्तु इस प्रकार पूरा बल उदात्त और ऊर्जा पर ही दे देने से जीवन तथा काव्य के अन्य पक्ष—जैसे मधुर और शांत—उपेक्षित हो गये। जीवन और काव्य का सर्वांग-ग्रहण न होने से लोंगिनुस का 'उदात्त' सिद्धान्त अपने में पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसके आधार पर मिल्टन, भारवि, मधुसूदनदत्त आदि के साथ आसानी से पक्षपात हो सकता है और कीट्स, कालिदास, विद्यापति तथा पंत, महादेवी के साथ अन्याय। लोंगिनुस ने शोक, दया और भय को इसी तर्क से हीनतर भाव माना है : मानो प्राणों की द्रुति का कोई मूल्य ही न हो! चित्त की विभिन्न दशाओं की आनन्दमय परिणति की परिकल्पना से युक्त भारतीय रस-सिद्धान्त की पूर्णता इसमें कहाँ?

फिर भी कुतूहल, शिक्षा और रंजन से आगे आत्मा के उत्कर्ष पर बल देकर और काव्य के आत्मिक तत्त्वों को उभारकर उन्होंने आलोचना की उस अंतरंग पद्धति का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा काव्य की आत्मा का साक्षात्कार सम्भव हो सका।—और, इस दृष्टि से उनका स्थान सबसे पृथक् और योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

काव्य में उदात्त तत्त्व

[अनुवाद]

डॉ० नगेन्द्र
श्री नेमिचन्द्र जैन

काव्य में उदात्त तत्त्व

(१)

प्रिय पोस्तुमिउस तेरेन्तिग्रानुस[1], तुम्हें स्मरण होगा कि कैकिलिउस[2] का औदात्त्य-विषयक प्रबन्ध जब हम लोगों ने साथ-साथ पढ़ा था तो हमें लगा था कि सम्पूर्ण विषय की गरिमा को देखते हुए उसका स्तर बहुत नीचा है, और आधारभूत तत्त्वों की पकड़ तो उसमें बिल्कुल ही नहीं है। इसलिए यह अनुभव होता था कि उससे पाठकों को बहुत कम सहायता मिलती है, जो प्रत्येक लेखक का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। किसी भी व्यवस्थित प्रबंध में दो बातें आवश्यक हैं। एक तो लेखक को यह बताना चाहिए कि विवेच्य विषय क्या है। दूसरे, और वास्तव में यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसे यह निर्देश करना चाहिए कि किस पद्धति द्वारा हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अब कैकिलिउस असंख्य उदाहरणों के द्वारा हमें यह बताने का प्रयत्न करता है कि 'उदात्त' का स्वरूप क्या है, मानो हम इतना भी न जानते हों। किन्तु, आश्चर्य है, उसने इस बात का विवेचन, कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्त्य के किसी निश्चित स्तर तक किस प्रकार उन्नमित कर सकते हैं, अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। वैसे तो हमें दोष-दर्शन की अपेक्षा उसकी सुन्दर सूझ और उत्साह की प्रशंसा ही करनी चाहिए लेकिन चूँकि तुमने अपने विशेष परितोष के लिए मुझसे भी 'उदात्त' के विषय में एक संक्षिप्त निबंध लिखने का अनुरोध किया है, इसलिए

पहले इस बात पर विचार कर लिया जाय कि प्रस्तुत विषय से संबद्ध मेरी धारणाओं का सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए कोई उपयोग है भी या नहीं। मेरे मित्र ! तुमको भी अपने स्वभाव और औचित्य के अनुकूल सत्य की कसौटी पर प्रत्येक तथ्य की सम्यक् परीक्षा करने में मेरे साथ सहयोग करना होगा। किसी ने ठीक ही कहा है कि दो बातों में हम देवताओं के समतुल्य हैं—उदारता में और सत्य-प्रियता में।

तुम-जैसे साहित्य-मर्मज्ञ व्यक्ति को पत्र लिखते समय इस विषय में कोई लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि औदात्त्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है : और केवल इसी के आधार पर श्रेष्ठ कवियों और लेखकों ने अपनी प्रतिष्ठा एवं अमर यश का अर्जन किया है। उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यय के रूप में नहीं वरन् भावोद्रेक के रूप में पड़ता है। गरिमामयी वाणी अपनी अभिभाव-क्षमता के कारण अनुनय* तथा परितोषकारी वाणी की अपेक्षा सदैव और सभी प्रकार से अधिक समर्थ होती है। प्रायः अपने अनुनय को तो हम नियन्त्रित कर सकते हैं, किन्तु उदात्त का प्रभाव अत्यंत प्रबल एवं दुर्निवार होता है और प्रत्येक श्रोता को भावाक्रान्त कर देता है। इसी प्रकार निर्माण-कौशल और उचित अनुक्रम एवं वस्तु-विन्यास किसी एक या दो गुणों से नहीं वरन् समस्त रचना-विधान के फलस्वरूप प्रयत्न-पूर्वक प्राप्त होते हैं, जब कि उदात्त-तत्त्व उपयुक्त क्षण में बिजली की भाँति कौंध समस्त विषय-वस्तु को छिन्न-भिन्न करता हुआ वक्ता की शक्ति के सम्पूर्ण वैभव को एक ही बार में उजागर कर देता है। किन्तु इस प्रसंग में इतना ही पर्याप्त है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि ये तथा इसी प्रकार के अन्य विचार तो तुम स्वयं ही अपने अनुभव से प्रस्तुत कर सकते हो।

---

* परसुएशन।

(२)

सबसे पहले तो हमें यह प्रश्न उठाना चाहिए कि उदात्त अथवा ऊर्जित की कला-जैसी कोई वस्तु है भी या नहीं। कुछ लोगों का मत है कि जो ऐसे विषयों को कला के अनुशासन के अन्तर्गत लाना चाहते हैं, वे पूर्णतः भ्रम में हैं। एक विचारक का कहना है कि उदात्त प्रवृत्ति तो नैसर्गिक होती है और शिक्षा द्वारा उपलब्ध नहीं होती : प्रकृति ही ऐसी कला है जो उसे अपनी परिधि में समेट सकती है। ऐसे लोगों का विचार है कि प्रकृति की रचनाएँ कला के नियमों द्वारा म्लान होकर निकृष्टतर और पूर्णतः दुर्बल हो जाती हैं। पर, मेरा विचार है कि यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि प्रकृति की कार्यविधि नियमतः आवेग और औदार्य के विषय में उन्मुक्त एवं स्वतंत्र होते हुए भी मनमांनी और पूर्णतः व्यवस्था-विहीन नहीं है, तो वस्तुस्थिति कुछ भिन्न ही जान पड़ेगी। साथ ही, प्रकृति सर्वदा ही मौलिक और प्राणभूत आधार-तत्त्व के रूप में होती है, किन्तु व्यवस्था द्वारा सीमाएँ तथा उपयुक्त अवसर निर्धारित किये जा सकते हैं और उपयोग एवं व्यवहार के लिए समुचित नियम प्राप्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उदात्त की अभिव्यक्ति के लिए उस समय आशंका अधिक रहती है जब वह ज्ञान के निर्देशन के बिना मनमाने ढँग से होने लगे—जब उसे अस्थिर और निराधार रूप में प्रकट होने दिया जाय, जब उसे निपट वेग और ज्ञानहीन औद्धत्य के हाथों में छोड़ दिया जाय। यह सही है कि प्रायः उसको प्रेरणा की आवश्यकता होती है, किन्तु यह भी सही है कि उसे प्रायः नियन्त्रण की भी आवश्यकता होती है। देमोस्थेनेस[3] ने साधारण मानव-जीवन के विषय में यह विचार प्रकट किया है कि सौभाग्य सबसे बड़ा वरदान है अवश्य, किन्तु सद्बुद्धि—जिसका स्थान दूसरा है—महत्त्व में किसी भी प्रकार कम नहीं है क्योंकि उसके अभाव में तो अनिवार्य रूप से सौभाग्य का भी विनाश हो जाता है। इस सिद्धान्त को हम

काव्य-भाषा के क्षेत्र में भी लागू कर सकते हैं जहाँ सौभाग्य का स्थान प्रकृति को प्राप्त है और सद्बुद्धि का स्थान कला को। सबसे महत्त्व-पूर्ण बात स्मरण रखने की यह है कि अभिव्यक्ति के कुछ तत्त्व प्रकृति के ही आश्रित हैं—इस बात का ज्ञान हम कला के अतिरिक्त और कहीं से प्राप्त नहीं कर सकते। मेरा कथन यही है कि प्रस्तुत विषय के जिज्ञासुओं की आलोचना करने वाले यदि इन सब बातों पर विचार करें तो, मुझे लगता है कि, वे इस विवेचन को अनावश्यक अथवा निरर्थक नहीं समझेंगे...

(३)

शांत करते हैं वे भट्टी का दूर-दूर तक फैला ऐश्वर्य-आलोक !
... ...
एक 'ज्वाल-माला' जिसे मैं जलधार की भाँति ऊपर उछाल दूँगा :
मैं जला दूँगा छत को, जलाकर राख कर दूँगा।—
नहीं, अब मेरे गीतों के स्वरों में भव्यता नहीं है।

ऐसी शब्दावली—'ज्वाल-मालाएँ', 'गगनघोषी उद्गार', बोरे-अस को 'वंशीवादक' के रूप में प्रस्तुत करना तथा ऐसी ही अन्य सब बातें वास्तव में त्रासद नहीं होतीं बल्कि उनमें एक प्रकार की मिथ्या त्रासद भावना पाई जाती है। भाव-तीव्रता से उत्पन्न होने की बजाय उनकी अभिव्यक्ति मलिन एवं बिम्ब-योजना अस्पष्ट है और सम्यक् परीक्षा करने पर धीरे-धीरे यह प्रकट होने लगता है कि वे वास्तव में भीषण नहीं वरन् निकृष्ट हैं। किन्तु त्रासदी में भी, जो अपने स्वभाव से ही गरिमायुक्त और अतिशयोक्तिपरक होती है, रुचिविहीन वाग्-स्फीति अक्षम्य है, और मेरा अनुमान है कि साधारण तथ्य-वर्णन के लिए तो वह और भी अनुकूल नहीं हो सकती। यही कारण है कि लियोन्तिनी का गौर्गिअस[४] जब क्सेरक्सेस[५] को 'ईरानवासियों का ज़ेउस'[६] और गृद्धों को 'जीवितसमाधि' कहता है तो हम उसकी इस पद-रचना की हँसी उड़ाते हैं। यही बात

कल्लिस्थेनेस[7] की कुछ उक्तियों के विषय में सत्य है जो उदात्त नहीं वरन् अतिशयोक्तिपूर्ण हैं और उससे भी अधिक सत्य है क्लेइतारखुस[8] की भाषा के बारे में, क्योंकि वह तो बहुत ही क्षुद्र है—सोफोक्लेस[9] के शब्दों में, वह तो 'बाँसुरी नहीं, बल्कि भोंपू' बजाने में ही विश्वास करता है। इसी प्रवृत्ति के अन्य उदाहरण अम्फिक्रतेस[10], हेगेसिअस[11] और मत्रिस[12] में भी मिल जायेंगे क्योंकि प्रायः जब ये लेखक ऐसा समझते हैं कि हम किसी अन्तःप्रेरणा के वशीभूत होकर लिख रहे हैं, उस समय वस्तुतः इनमें सच्चे भावावेश का अभाव होता है और ये केवल शब्द-क्रीड़ा में उलझे रहते हैं।

कुल मिलाकर लगता है कि वागाडम्बर से बचना विशेष रूप से कठिन है। इसका कारण यही है कि औदार्य-कामी लेखक सदा क्षीणता और शुष्कता के आरोप से बचने की आतुरता में, मानो किसी विचित्र प्राकृतिक नियम के कारण, दूसरे ही छोर पर पहुँच जाते हैं। वे इस सिद्धान्त-सूत्र में विश्वास करते जान पड़ते हैं कि "किसी महान् प्रयास में असफलता कम से कम एक शानदार भूल तो है ही।" किन्तु शोथ चाहे शरीर का हो अथवा भाषा का वह सदा दोष ही माना जायगा क्योंकि वह अवास्तविक एवं स्फीतिमय होता है और उससे अपने उद्देश्य के प्रतिकूल परिणाम की आशंका रहती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि जलोदर रोग से पीड़ित मनुष्य की अपेक्षा अधिक शुष्कता और कहीं नहीं पाई जाती। वागाडम्बर में जहाँ उदात्त की सीमा का अतिक्रमण करने की इच्छा रहती है, वहाँ बालेयता* नामक दोष उदात्त के एकदम विपरीत होता है—वह सर्वथा निकृष्ट और क्षुद्र वरन् सच पूछा जाय तो शैली का सबसे जघन्य दोष है। तो फिर यह बालेयता आखिर है क्या? स्पष्ट ही यह दोष विद्या-जड़ व्यक्ति के विचारों में निहित रहता है जिनका आरम्भ पाण्डित्यपूर्ण तुच्छता और अन्त निष्प्राण वाचालता में होता

---

* प्यूरिलिटी।

है। लोग इस प्रकार की भूल तब करते हैं जब वे 'असामान्य', 'विस्तारपूर्ण' और इन सबसे अधिक 'आकर्षक' का अनुसंधान करते हुए अन्त में अनजाने ही झूठी शोभा और कृत्रिमता के चक्कर में पड़ जाते हैं। तीसरा और इसी से बहुत कुछ सम्बद्ध आवेग-विषयक दोष वह है जिसे थ्योदोरुस[13] भावाडम्बर* कहा करता था। इसका अर्थ है कि जहाँ किसी आवेग की आवश्यकता नहीं है वहाँ अवसर के अनुपयुक्त और खोखले आवेग का प्रदर्शन किया जाय अथवा जहाँ संयम की आवश्यकता है वहीं असंयम दिखाई पड़े। क्योंकि प्रायः बहुतसे मनुष्य मानो मदमत्त होकर ऐसे भाव-प्रदर्शन में बहक जाते हैं जो विषय की प्रकृति से उत्पन्न न होकर सर्वथा वैयक्तिक और क्लान्तिकर होता है। परिणामस्वरूप श्रोता प्रभावित नहीं होते और उन्हें इनका व्यवहार भद्दा जान पड़ता है। और, इसमें आश्चर्य भी क्या है, क्योंकि ऐसे वक्ता ही आपे से बाहर रहते हैं, उनके श्रोता नहीं। किन्तु आवेग के प्रश्न पर हम फिर बाद में अलग से विचार करेंगे।

(४)

दूसरा दोष जिसका हमने उल्लेख किया है शब्दाडम्बर है; इसके उदाहरण तिमएउस[14] में बहुतसे मिल जाते हैं। तिमएउस साधारणतः काफ़ी योग्य लेखक था, जिसकी रचनाओं से कभी-कभी यह प्रकट होता है कि उदात्त शैली का प्रयोग उसकी सामर्थ्य के बाहर नहीं। वह विद्वान् था और उसकी सूझ भी अच्छी थी, पर उसकी यह प्रवृत्ति थी कि दूसरों के दोषों की तो वह बहुत आलोचना करता था किन्तु स्वयं अपने दोष उसे दिखाई न पड़ते थे। निरन्तर नए-नए विचारों की उद्भावना करने की प्रबल आकांक्षा के कारण वह प्रायः एकदम बचपन कर बैठता था। उसकी इस प्रवृत्ति के मैं एक-दो

---

* परेनथ्युरसुस (परेनथ्युरसोन—यूनानी भाषा)।

उदाहरण ही दूँगा क्योंकि बहुतसे उदाहरण कैकिलिउस पहले ही दे चुका है। सिकन्दर महान् के कीर्ति-गान में वह लिखता है : "सिकंदर को समस्त एशिया पर विजय लाभ करने में उतने भी वर्ष नहीं लगे जितने इसोक्रतेस[१५] को फ़ारस-विरोधी युद्ध की प्रेरक प्रशस्ति रचने में लगे थे।" मकदून के योद्धा की एक रीतिकार से यह तुलना सचमुच ही विचित्र है। यह कितना स्पष्ट है कि इस प्रकार विचार करने से लकेदेमोनिया-वासी शक्ति में इसोक्रतेस से कहीं हीनतर सिद्ध होंगे क्योंकि उन्हें तो मैस्सेने की विजय में तीस वर्ष लगे जब कि इसोक्रतेस ने अपनी प्रशस्ति दस वर्ष में ही रच डाली थी। अथवा सिसली में बन्दीकृत अथेनियों के विषय में उसके वर्णन पर ध्यान दीजिए : "उन्हें दण्ड इसलिए मिला क्योंकि उन्होंने हर्मेस के प्रति अनाचार किया था तथा उसकी प्रतिमाओं को खण्डित किया था। और इस दण्ड का पूरा श्रेय मुख्यतः हर्मोन के पुत्र हर्मोक्रतेस को था जिसके पिता अपमानित देवता की वंश-परम्परा में उत्पन्न हुए थे।" प्रिय तेरेन्तिआनुस, मुझे तो आश्चर्य इस बात का है कि उसने अत्याचारी दिओन्यूसिअस के बारे में यह नहीं लिखा : "दिओन और हेराक्लेइदेस ने उसकी सत्ता इसलिए छीन ली क्योंकि उसने ज़ेउस और हेराक्लेस के प्रति पाप किया था।" किन्तु तिमएउस को ही क्यों दोष दिया जाय जब कि क्सेनोफोन[१६] और प्लतोन[१७] (प्लेटो) जैसे साहित्य-महारथी भी, जिन्होंने स्वयं सुकरात[१८] से शिक्षा प्राप्त की थी, कभी-कभी ऐसे क्षुद्र वाग्विलास में फँसकर अपने प्रकृत रूप को भूल जाते हैं! क्सेनोफोन अपनी 'लकेदेमोनिया-वासियों की राज-व्यवस्था' नामक पुस्तक में लिखता है : "उनकी आवाज़ सुनना संगमरमर की मूर्तियों की आवाज़ सुनने से भी अधिक कठिन है और उनका दृष्टि-विक्षेप कांस्य मूर्तियों के दृष्टि-विक्षेप से भी अधिक दुष्कर है; उन्हें आप उनकी आँखों की कुमारियों से भी अधिक लज्जावान समझेंगे।"

आँखों की पुतलियों को 'लज्जावान कुमारी' कहना अम्फिक्रतेस को भले ही शोभा देता, क्सेनोफोन को नहीं। हे भगवान्, कैसी विचित्र बात है कि पूरे समुदाय की पुतलियों को लज्जावान मान लिया जाय, यद्यपि यह एक प्रचलित कहावत है कि मनुष्यों की निर्लज्जता का पता जितना उनकी आँखों से चलता है, उतना किसी अन्य वस्तु से नहीं। होमेरस[19] ने लिखा है : "कुत्ते की सी आँखों वाले ओ मदान्ध व्यक्ति !" किन्तु तिमएउस ने इस वागाडम्बर को भी क्सेनोफोन के लिए नहीं छोड़ा, बल्कि उस पर ऐसे झपटा है मानो कोई छिपा हुआ ख़ज़ाना मिल गया हो। अगथोक्लेस के बारे में यह कह चुकने के बाद कि वह किसी दूसरे की वाग्दत्ता अपनी एक रिश्ते की बहन का विवाह-समारोह के बीच में से ही अपहरण कर लाया था, वह पूछता है : "जिसकी आँखों में कुमारियों के स्थान पर कुलटाएँ न हों, उसे छोड़कर कौन ऐसा कार्य कर सकता है ?" हाँ, और प्लतोन ने भी (जिसकी अभिव्यंजना साधारणतः इतनी दिव्य होती है), तख़्ती के लिए यह लिखा है : "वे मन्दिरों में सुरद्रुम* वाले स्मारक लिखकर सुरक्षित रखेंगे।"

और इसी प्रकार, "मैगीलुस, मैं स्पार्ता से सहमत हूँ कि दीवारें छूते ही उन्हें पृथ्वी के गर्भ में पड़े रहने दिया जाये और कभी उठने की आज्ञा न दी जाय।" हैरोदोतस[20] का यह कथन भी कि सुन्दरी स्त्रियाँ 'चक्षु-दंश' होती हैं, कोई ज़्यादा अच्छा नहीं है। किन्तु किसी हद तक इसको क्षमा किया जा सकता है क्योंकि उसकी कथा में जो लोग इस विशेष शब्दावली का उपयोग करते हैं वे बर्बर हैं और शराब पीकर उन्मत्त हैं। फिर भी इस प्रकार के चरित्रों के मुख से भी ऐसे शब्द कहलाना उचित नहीं जिनके कारण लेखक को भावी पीढ़ियों की दृष्टि में अशोभन और तुच्छ शब्दाडम्बर के दोष का भागी बनना पड़े।

---

* साइप्रस।

(५)

साहित्य में इस प्रकार की कुरूप और परोपजीवी प्रवृत्तियाँ केवल एक ही कारण से उत्पन्न होती हैं और वह है विचारों की अभिव्यक्ति में नवीनता की खोज, जिसके पीछे आजकल लोग बुरी तरह पागल हो उठे हैं। हमारे अधिकांश दोष और गुण प्रायः एक ही प्रकार के स्रोत से उत्पन्न होते हैं। इसलिए एक ओर जहाँ अभिव्यक्ति के अलंकार, उदात्त के स्पर्श और मनोहारी काव्य-प्रसाधन सप्रभाव रचना के लिए अनुकूल पड़ते हैं; वहाँ दूसरी ओर यही सब उपकरण केवल सफलता के ही नहीं, वरन् विफलता के भी मूल तत्त्व और आधार सिद्ध होते हैं। कुछ इसी प्रकार की बात शब्द-रूपों, अतिशयोक्ति तथा बहुवचन के प्रयोग के बारे में भी सही है और आगे चलकर अलग से हम इनके सम्भावित दोषों पर विचार करेंगे। इस समय ऐसे उपायों की शोध और निर्देश आवश्यक है कि जिनके द्वारा हम उदात्त के सहवर्त्ती दोषों से बच सकें।

(६)

मित्रवर, इसका सबसे अच्छा उपाय यह होगा कि हम पहले वास्तविक उदात्त के स्वरूप को स्पष्टतः जान और समझ लें। किन्तु यह कार्य बहुत ही श्रमसाध्य है क्योंकि शैली की परख सुदीर्घ अनुभव के बाद ही हो सकती है। तो भी यदि इन विषयों में मुझे कुछ शिक्षा देनी ही हो तो मैं कहूँगा कि निम्नलिखित कुछेक बातों पर ध्यान देने से इन विषयों में विवेक-बुद्धि प्राप्त करना शायद असम्भव नहीं है।

(७)

यह तो तुम जानते ही हो कि जो बात मनुष्य के साधारण जीवन के विषय में सही है, वही 'उदात्त' के विषय में भी है। जीवन में ऐसी कोई चीज़ बड़ी नहीं मानी जा सकती जिससे घृणा करना

बड़ी बात समझी जाती हो। उदाहरण के लिए सम्पत्ति, पदवियाँ, विशेष सम्मान, राजपाट और ऐसी ही अन्य वस्तुओं को, जिनमें बाहरी तड़क-भड़क और दिखावा काफ़ी रहता है, कोई भी समझदार व्यक्ति चरम वरदान नहीं मानेगा, क्योंकि इन सब वस्तुओं का तिरस्कार भी कम अच्छा नहीं समझा जाता। कम से कम इतना तो निर्विवाद ही है कि जो लोग इन वस्तुओं को प्राप्त करने की सामर्थ्य होने पर भी उनका तिरस्कार कर सकते हैं, उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सम्मान मिलता है। इसी प्रकार हमको कविताओं और गद्य-रचनाओं के अंतर्गत उदात्त तत्त्व के विषय में भी यह विचार करना चाहिए कि तथाकथित उदाहरण केवल ऊपर से ही तो उदात्त नहीं दिखाई पड़ते और उनमें ऐसे निरर्थक तत्त्व तो कहीं विद्यमान नहीं हैं जो विश्लेषण करने पर मिथ्याडम्बर मात्र सिद्ध हों और उदारचेता व्यक्ति प्रशंसा की अपेक्षा जिनकी निन्दा ही अधिक करें। क्योंकि सच्चे औदात्त्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ उसने सुना है वह स्वयं उसी की अपनी कृति हो। इसलिए जब किसी रचना के बार-बार सुनने पर भी एक चतुर और साहित्यविज्ञ व्यक्ति की आत्मा उच्च विचारों की ओर उन्मुख न हो उठे तथा जितनी शब्दों से प्रकट होती है उससे अधिक विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत न कर सके, वरन् पूरी तरह कसौटी पर कसने से उस रचना के प्रति सम्मान और कम हो जाय तो उसमें सच्ची उदात्तता का अस्तित्व नहीं माना जा सकता क्योंकि वह एक बार सुनने के बाद टिक नहीं पाती। वास्तव में महान् रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाय और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे। साधारणतः औदात्त्य के उन उदाहरणों

को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें क्योंकि जब विभिन्न रुचियों, वृत्तियों, महत्त्वाकांक्षाओं, अवस्थाओं और भाषाओं के व्यक्तियों का किसी एक ही विषय पर एक-सा मत हो, तो वह निर्णय, जो एक प्रकार से अनेक परस्पर-विपरीत तत्त्वों के समन्वय से प्राप्त होता है, आलोच्य वस्तु के प्रति हमारी आस्था को अत्यन्त पुष्ट और अटल बना देता है।

(८)

यह कहा जा सकता है कि उदात्त भाषा के पाँच प्रमुख उद्गम-स्रोत हैं। इन पाँच विभिन्न गुणों के नीचे एक प्रकार से एक सामान्य आधार है जो हर स्थिति में अनिवार्य है। वह आधार है वाक्-प्रतिभा। इन पाँचों में प्रथम और सर्वप्रमुख है महान् धारणाओं की क्षमता, जैसा कि हम क्सेनोफोन के विषय में चर्चा करते समय अन्यत्र कह चुके हैं। दूसरा है उद्दाम और प्रेरणा-प्रसूत आवेग। औदात्त्य के ये दो अवयव लगभग जन्मजात होते हैं, बाक़ी तीन अंशतः कला की उपज हैं। तीसरा अवयव है अलंकारों की समुचित योजना, जिसके अन्तर्गत भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही से संबंधित अलंकार आ जाते हैं। अगला अवयव है उत्कृष्ट भाषा, जिसके अन्तर्गत शब्द-चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा-समृद्धि आदि गुण आ जाते हैं। औदात्त्य का पाँचवाँ कारण जो उचित ही पिछले चारों गुणों की परिणति-रूप है, वह है गरिमामय एवं ऊर्जित रचना-विधान। अब आओ, इस बात पर विचार करें कि इनमें से प्रत्येक से क्या अभिप्राय है। यहाँ भूमिका के रूप में केवल एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कैकिलिउस ने इन पाँचों में से कुछेक अवयवों को—उदाहरण के लिए आवेग को—छोड़ दिया है। यदि उसने ऐसा इस आधार पर किया है कि औदात्त्य और आवेग में कोई अन्तर नहीं है तथा वे स्वभाव से ही एक और अविभाज्य हैं तो निस्सन्देह वह भ्रम में है। क्योंकि ऐसे भी आवेग होते हैं जो

औदात्य से बहुत दूर हैं और जो निम्नतर कोटि के हैं, जैसे दया, शोक, भय आदि। दूसरी ओर 'उदात्त' के ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जिनका आवेग से कोई सम्बन्ध नहीं, जैसे अलोअदए के सम्बन्ध में होमर के ओजस्वी (साहसपूर्ण) शब्द :

> और हाँ, उन्होंने क्रोधावेश में आकर ओल्युम्पुस (ओलिम्पस) के
> ऊँचे शिखर पर ओस्सा को स्थापित कर दिया,
> और फिर उसके ऊपर वनाच्छादित पेलिओन (पीलियन) को—
> जहाँ से वे आकाश पर चढ़ सकें।

और फिर इसी के बाद ये शब्द जो और भी प्रबल हैं :

> हाँ, और उनका वह प्रबल कार्य !

वक्ताओं में भी—प्रशस्तियों और औपचारिक तथा प्रासंगिक भाषणों में—प्रायः गरिमा और उदात्तता के ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें अधिकतर आवेग का अभाव होता है। यही कारण है कि आवेगपूर्ण वक्ता सबसे निकृष्ट प्रशस्तिकार होते हैं और उधर प्रवीण प्रशस्तिकारों में आवेग की अत्यन्त न्यूनता होती है। दूसरी ओर, यदि कैकिलिउस का विचार यह था कि आवेग उदात्त की सृष्टि में कभी सहायक नहीं होता और इसीलिए उसने उसका उल्लेख करना उचित नहीं समझा, तब तो उसकी धारणा सर्वथा भ्रान्त है। मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो आवेग उन्मद उत्साह के उद्दाम वेग से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथा-स्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्त्य आता है, अन्यत्र वैसा दुर्लभ है।

(६)

उपर्युक्त उपकरणों में से प्रथम अर्थात् मन की ऊर्जा पाँचों में सर्वप्रमुख है। अतएव, इसके लिए भी हमें, यद्यपि यह गुण अर्जित न होकर स्वभावजात होता है, यथासम्भव अपनी आत्मा में उदात्त

विचारों का पोषण करना चाहिए और उसे भव्य प्रेरणाओं से परिपूरित रखना चाहिए। तुम पूछोगे कि यह किस प्रकार किया जा सकता है ? एक और स्थान पर मैंने लिखा है : "औदात्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।" यही कारण है कि केवल भाव भी अपने आप, तथा शब्दों के अभाव में भी, कभी-कभी भावक आत्मा की महानता का द्योतक होने के कारण प्रशंस्य हो जाता है। इसी कारण पाताल लोक में अजक्स (अऐक्स)[२१] का मौन, शब्दों की अपेक्षा, कहीं अधिक महान् और उदात्त है। तो फिर सबसे पहले यह नितान्त आवश्यक है कि इस ऊर्जा के उद्गम का निर्देश किया जाय—अर्थात् सच्चे वाग्मी को निश्चय ही क्षुद्र और हीनतर भावों से मुक्त होना चाहिए। क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों तथा विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों। यही कारण है कि मनस्वियों को भव्य वाणी सहज ही प्राप्त होती है। तुम्हें स्मरण होगा कि सिकंदर ने परमेनियो को इस प्रकार उत्तर दिया था :

"जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं पूरी तरह सन्तुष्ट था···।" कितना आकाश-पाताल का अन्तर है और इसे न केवल होमेरस की कला का बल्कि ऐरिस (चण्डी) के वर्णन का मानदण्ड माना जा सकता है। इसके विपरीत, 'ढाल'[२२] नामक रचना यदि हेसिओद[२३] की ही मानी जाय तो उसका निम्नलिखित शोकवर्णन होमेरस (होमर) के वर्णन से कितना भिन्न है :

उसके नथुनों से झाग गिर रहा था।

यहाँ जो बिम्ब व्यंजित किया गया है वह भय नहीं जुगुप्सा उत्पन्न करता है। अब होमेरस (होमर) द्वारा अंकित दिव्य शक्तियों के चित्र की तुलना इससे कीजिए :

और जितनी दूर, सागर तल के कुहासे में से कोई देख सके,
चट्टान पर आसीन, सुरा-श्यामल अथाह सागर की ओर दृष्टि गड़ाये,
उतनी दूर तक मृत्युंजयी के उच्चघोष अश्व एक छलाँग में पहुँच जाते हैं।

वह जगत् के अनन्त विस्तार को उनकी छलाँग का मानदण्ड बनाता है। यह उदात्त वर्णन इतना प्रबल है कि अचानक ही हम कह उठते हैं : "दिव्य अश्व यदि लगातार दो बार इस प्रकार झपटें तो वे संसार की सीमा का अतिक्रमण कर जायेंगे।" देवताओं के युद्ध-वर्णन में भी बिम्ब-योजना कितनी भव्य है :

दूर-दूर तक विस्तृत आकाश में और ओल्युम्पुस के चारों ओर उसका वज्र-तूर्य गूंज उठा,
और छायालोक का राजा, उसे सुनकर काँपने लगा।
और वह अपने सिंहासन से उछल पड़ा, अपने अंतर के भय से चीखने लगा
कि कहीं पृथ्वी को कँपानेवाला पोसेइदोन[२४] उसी के ऊपर धरती को न विदीर्ण कर डाले—
और अमरों तथा मर्त्यों के सामने प्रकट हो जायें वे भीषण आवास,
वे विकराल तथा कदाकार महल, देवताओं के घृणापात्र !

मित्र, अब तुम, यह देखो कि यहाँ किस प्रकार धरती अपने आधार से विच्छिन्न कर दी गई है। स्वयं पाताल लोक को खोलकर रख दिया गया है, सारा संसार उलट गया है, खंड-खंड कर दिया गया है और सभी पदार्थ एक साथ—स्वर्ग और नरक, मर्त्य और अमर्त्य—उस संग्राम के संघर्ष और विपत्तियों में भाग लेते जान पड़ते हैं।

किन्तु, यद्यपि ये वस्तुएँ भय उत्पन्न करने वाली हैं, फिर भी एक अन्य दृष्टि से, यदि उन्हें रूपक न माना जाय तो, वे सर्वदा अधर्मपूर्ण हैं और हमारी औचित्य-भावना पर आघात करती हैं। मुझे लगता है कि होमेरस (होमर) ने देवताओं की विपत्ति, उनके पारस्परिक कलह, प्रतिशोध, शोक, बन्धन तथा अन्य नानाविध आवेगों की कथाओं में, जहाँ तक उसकी सामर्थ्य में था, 'त्रिअ (ट्रॉय) के

घेरे'[२५] से सम्बद्ध मनुष्यों को देवता बना दिया है और देवताओं को मनुष्य। पर जहाँ हम मर्त्यों के लिए, दुर्भाग्य का प्रकोप होने पर, मृत्यु के द्वारा अपने कष्टों से छुटकारा पाने का विधान है वहाँ होमेरस (होमर) ने देवताओं को न केवल अपने प्रकृत रूप में वरन् दुर्भाग्य में भी अमर चित्रित किया है। देवताओं के संग्राम-सम्बंधी प्रसंगों की अपेक्षा वे स्थल कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं जिनमें वास्तविक दिव्य स्वभाव का, उसके विशुद्ध, महान् तथा अकलुष रूप में, चित्रण किया गया है। उदाहरण के लिए पोसेइदोन-सम्बन्धी एक अंश को लीजिए जिसके विषय में हमसे पहले और भी बहुत लोग विचार कर चुके हैं :

> उसकी सुदूर विस्तृत पर्वतमालाएँ, वनों के वृक्ष, शिखर और त्रिआई (ट्रायवासी) योद्धाओं का नगर, और अखैया[२६] के पोतों की पंक्तियाँ स्तब्ध होकर काँप उठीं,
> पोसेइदोन के आगे बढ़ने के साथ ही—उसके अमर चरणों के तले !
> फिर लहरों के ऊपर भी वह बढ़ चला : देवता के आगे
> समुद्री जन्तु चारों ओर गह्वरों से निकलकर ऊपर उछल आये
> क्योंकि वे अपने राजा को पहचानते थे,
> समुद्र हर्षातिरेक में बीच से फट गया, और रथ के अश्व आगे उड़ चले।

इसी भाँति यहूदियों के विधाता ने, जो कोई साधारण व्यक्ति न था, ईश्वरत्व की शक्ति की समुचित धारणा स्थिर और व्यक्त करने के बाद, अपनी धर्म-संहिता के प्रारम्भ में लिखा था, "ईश्वर ने कहा"—क्या कहा ? "आलोक प्रकट हो जाय, और आलोक प्रकट हो गया; भूमि प्रकट हो जाय और भूमि प्रकट हो गई।" मित्र, यदि मैं होमेरस (होमर) से एक और उद्धरण दूँ तो (आशा है) शायद तुम ऊबोगे नहीं। यह उद्धरण मनुष्यों से सम्बद्ध है और इससे यह प्रकट होता है कि होमेरस (होमर) किस प्रकार अपने नायकों के उदात्त कार्यों के साथ स्वभावतः ही तादात्म्य कर लेता था। उसके काव्य में यूनानियों के युद्ध पर अचानक ही कोहरे और घोर रात्रि का

आवरण पड़ जाता है। उस समय अजक्स को कुछ भी नहीं सूझता और वह पुकार उठता है : "ज़ेउस, (जेफ़्स) हे पिता, अखैया के पुत्रों की तू इस अन्धकार से रक्षा कर, दिन के मुक्त प्रकाश को उजागर कर और हमें यह वरदान दे कि हम अपनी आँखों से देख सकें। हमें नष्ट ही करना हो तो उजाले में हमारा नाश कर !"

अजक्स का सही दृष्टिकोण यही है। वह जीवन-दान की प्रार्थना नहीं करता क्योंकि ऐसी प्रार्थना किसी वीर के उपयुक्त नहीं। किन्तु क्योंकि उस घोर अन्धकार में वह अपनी वीरता का किसी भव्य उद्देश्य के लिए उपयोग नहीं कर पाता, इसलिए वह अपनी अकर्मण्यता पर क्षोभ प्रकट करता है और तुरन्त ही प्रकाश के वरदान की माँग करता है। वह अपनी वीरता के अनुरूप अन्त तक संग्राम करने को प्रस्तुत है, फिर चाहे उसके शत्रुओं की पंक्ति में स्वयं ज़ेउस ही क्यों न आकर खड़े हो जायें। सत्य यह है कि ऐसे सभी स्थलों पर होमर संग्राम की सम्पूर्ण प्रेरणा का स्वयं भी अनुभव करता है; यह बात स्वयं कवि के बारे में भी उतनी ही सही है कि—

वह उन्मत्त होकर भालों को चलाने वाले आरेस की भाँति झपटता है,
अथवा उन पागल ज्वालाओं की भाँति जो किसी सघन वन के भीतर
एक पर्वत से दूसरे पर्वत तक प्रत्येक वस्तु को भस्मसात् करती हुई लपकती हैं,
और उसके होठों के किनारों पर झाग निकल आया है।

किन्तु ओद्युस्सेइआ[२७] (ओडिसी) में यह प्रकट होता है (और इस कथन पर कई कारणों से ध्यान देना उचित होगा) कि जब किसी महान् प्रतिभा की शक्ति क्षीण होने लगती है तो उस क्षीणता का विशेष द्योतक होता है अद्भुत और विस्मयकारी कथाओं के प्रति अनुराग। कई बातों से यह स्पष्ट है कि ओद्युस्सेइया (ओडिसी) उसकी दूसरी रचना थी। इस तथ्य का एक विशेष प्रमाण यह है कि इस काव्य में होमेरस (होमर) ने इलिउम[२८] के पूर्ववर्ती शेष साहसिक

कृत्यों को एक प्रकार से त्रिश्र (ट्राय) के युद्ध के उपाख्यानों के रूप में प्रस्तुत किया है, और वास्तव में वहाँ वह अपने नायकों के प्रति शोक और विलाप के रूप में सम्मान प्रकट करता है मानो अपने किसी चिर-अभीष्ट की पूर्ति कर रहा हो। वास्तव में ओद्युस्सेइआ (ओडिसी) 'ईलिअद'[29] का उपसंहार मात्र है।

> वहाँ सोया है अभागा योद्धा अजक्स, वहीं अखिल्लेस[30] (ऐचिलीज़) है,
> वहीं है पत्रोक्लुस[31] जिसके शब्दों का ऐसा महत्त्व था मानो वह देवता हो,
> वहीं सोया है मेरा अपना प्यारा बेटा !

मेरा अनुमान है कि इसी कारण से उसने 'ईलिअद' की समस्त संघटना को, जो उसकी अंत:प्रेरणा के भव्यतम क्षणों में लिखी गई थी, काव्य-व्यापार और संघर्ष से परिपूर्ण बनाया है। दूसरी ओर ओद्युस्सेइआ लेखक की वृद्धावस्था के अनुरूप अधिकांशत: समाख्यान-प्रचुर है। इस प्रकार ओद्युस्सेइआ में होमर की तुलना डूबते हुए सूर्य से की जा सकती है जिसके पास ऐश्वर्य तो होता है किन्तु तेज नहीं रहता। ओद्युस्सेइआ में ईलिउम की कविताओं का जैसा उदात्त स्वर नहीं रह पाता। उसकी उदात्त भावनाएँ सभी स्थलों पर सम-स्थिर नहीं रह पातीं—उनके क्षीण पड़ जाने की आशंका रहती है; उसमें न तो संचित आवेगों की वैसी प्रचुरता ही है और न वास्तव जीवन से लिये हुए चित्रों से परिपूर्ण नम्य तथा ओजस्वी शैली ही। उसमें तो एक प्रकार से शक्ति का ज्वार-भाटा जैसा दिखाई पड़ता है और लगता है जैसे कल्पना विश्वासातीत तथा अवास्तविक लोक में विचरण कर रही है, मानो कोई महासागर अपने भीतर सिमटा जा रहा हो और अपनी ही सीमाओं के भीतर उघड़ता जा रहा हो। यह कहते समय मैं ओद्युस्सेइआ में तूफ़ानों के वर्णनों और क्युक्लोप जाति की कथा जैसे प्रसंगों को भूला नहीं हूँ। मैंने वृद्धा-वस्था की बात कही, किन्तु वह वृद्धावस्था है तो होमर की ही। जो

हो, इस समस्त काव्य में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना की ही प्रधानता है। इस विषयान्तर का उद्देश्य यह दिखाना है कि किस प्रकार महान् प्रतिभाएँ भी अपने ह्रास की अवस्था में कभी-कभी कितनी आसानी से बेतुकी बातें करने लगती हैं। उदाहरण के लिए, शराब के चर्म-पात्र से सम्बंधित घटना, किरके द्वारा सुअरों की भाँति डटकर खिलाये-पिलाये जानेवाले लोगों का वर्णन (जिन्हें ज़ोइलुस 'रिरियाते सुअर' कहता है), अथवा कपोतों द्वारा शावक की भाँति पोषित ज़ेउस की कथा, भग्न पोत पर दस दिन तक बिना खाये-पिये रहने वाले नायक और विवाहोत्सुक प्रेमियों की हत्या का अविश्वसनीय प्रकरण—ये सब प्रसंग उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। क्योंकि इन्हें हम ज़ेउस के सपनों के सिवाय और क्या कह सकते हैं? ओद्युस्सेइआ के सम्बन्ध में इन बातों की चर्चा एक अन्य कारण से भी आवश्यक है—जिससे तुम जान सको कि महान् कवियों और गद्य-लेखकों की प्रतिभा की चरम अभिव्यक्ति भावावेग का ह्रास होने पर चरित्र-चित्रण में होती है। क्योंकि चरित्र-चित्रण पर ध्यान रखकर ही ओद्युस्सेउस (ओडिसियस) के घरेलू जीवन के सम्बन्ध में होमर ने ये सब विवरण दिये हैं; एक प्रकार से इन सबके कारण आचरण-सम्बन्धी प्रहसन जैसा बन जाता है।

(१०)

अब हम इस बात पर विचार करें कि शैली के औदात्त्य में योग देने वाली कोई अन्य वस्तु भी है अथवा नहीं। प्रत्येक वस्तु में स्वभाव से ही कुछ ऐसे तत्त्व रहते हैं जो उसके अभिन्न अंग होते हैं। इसलिए, निश्चय ही, औदात्त्य का एक कारण तो हमें मिलेगा किसी वस्तु के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का व्यवस्थित रीति से चयन करने और उनको परस्पर संगठित कर समग्र रूप देने की क्षमता में। पहली प्रक्रिया में श्रोता विचारों के निर्वाचन से आकृष्ट होता है और दूसरी में उनके संघटन से। उदाहरण के लिए सैफ़ो[३४] सदा यथार्थ जीवन के

अनुभूति-चक्र में से केवल विक्षिप्त आवेग के सहवर्त्ती भावों का ही चयन करती है। उसका अपूर्व उत्कर्ष कहाँ प्रकट होता है? वास्तव में जिस कौशल से वह आवेग की अधिक से अधिक प्रबल एवं प्रभावोत्पादक परिस्थितियों का चयन और निबन्धन करती है, वह उसकी (कला की) उत्कृष्टता का मूल है:

देवों में श्रेष्ठ वह मुझे जान पड़ता है, वह परमसुखी पुरुष
जो बैठा हुआ अपने सामने तुझे निहार रहा है,
तेरे बहुत समीप बैठा है वह, और चुपचाप तेरी
रजत-मधुर वाणी को सुन रहा है,
प्रेम की मृदुल हँसी हँसता हुआ। ओह यह, इससे तो बस
मेरे वक्ष के भीतर उद्विग्न हृदय काँप उठता है!
क्योंकि तुझे पल भर देखते ही मेरी वाणी सहसा मूक हो जाती है:
हाँ, मेरी जिह्वा टूट गई है, और मेरे भीतर प्रत्येक शिरा में
मज्जा के नीचे एक अदृश्य अग्नि जाग उठी है,
मेरी आँखें कुछ नहीं देख पातीं, और गर्जित लहरों का
स्वर मेरे कानों में गूँजता है:
प्रस्वेद की धाराएँ बह उठती हैं, मेरे समस्त अंगों में
एक कम्पन दौड़ जाता है,
और पतझर की घास से भी अधिक पीली,
आसन्न मृत्यु की आशंका की पीड़ा से ग्रस्त,
मैं लड़खड़ाने लगती हूँ, प्रेम-मूर्च्छा में विलुप्त!

क्या तुम्हें विस्मय नहीं होता कि किस प्रकार क्षण भर में वह आत्मा, शरीर, कान, जिह्वा, आँखें, रंग सबको ऐसे एकत्र करती है मानो वे सब उससे भिन्न और इधर-उधर बिखरे हुए हों? वह परस्पर-विरोधी तत्त्वों का समंजन करती है: एक साथ ही वह उत्तप्त भी है और शीतल भी, प्रबुद्ध भी और विक्षिप्त भी, क्योंकि या तो वह भयभीत है और या मरणासन्न। वह यह प्रभाव उत्पन्न करना चाहती है कि उसमें केवल एक ही आवेग नहीं बल्कि अनेक का संघात देखा जाय। ये सारी बातें सभी प्रेमियों के साथ होती हैं

किन्तु, जैसा मैंने कहा, उपर्युक्त उद्धरण का अपूर्व सौन्दर्य सर्वाधिक प्रभावी तथ्यों को चुनने और उन्हें एक सम्पूर्ण इकाई में गूँथ देने से ही उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार तूफ़ानों का वर्णन करने में होमेरस अधिक से अधिक भीषण परिस्थितियों का ही चयन करता है। 'अरिमसपेइया'[३३] का लेखक इस प्रकार से भय उत्पन्न करने का उपक्रम करता है :

> तथापि यह एक बड़ा भारी विस्मय है मेरी आत्मा के लिए—
> मनुष्य पृथ्वी से बहुत दूर जल पर निवास करते हैं, जहाँ अगाध
> सागर लहराते हैं।
> अभागे वे, क्योंकि वे केवल यातना और पीड़ा की फ़सल ही काटते हैं
> उनकी आँखें सदा सितारों की ओर लगी रहती हैं, और उनके हृदय
> सदा सागर की ओर।
> मैं सोचता हूँ, प्रायः देवताओं के लिए उनके हाथ ऊपर आसमान की
> ओर उठे रहते हैं।
> और प्रभु की ओर उन्मुख व्यथाभरे हृदय से प्रार्थना के स्वर में वे
> क्रन्दन करते हैं।

मेरे विचार से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इन शब्दों में भय से अधिक उदात्त भाव है। पर होमर क्या कहता है? अनेक उदाहरणों में से केवल एक ही लीजिए :

> और वह उन पर टूट पड़ा, जैसे काले बादलों के नीचे उमड़ती हुई कोई
> तरंग
> वायु से स्फीत विराट आकार धारण कर, किसी जहाज पर टूट
> पड़ती है,
> और विक्षिप्त फेन ढँक लेता है एक छोर से दूसरे छोर तक उसके
> समूचे आकार को,
> और तूफ़ान का भयंकर उच्छ्वास पाल में गरज उठता है,
> नाविक-दल के हृदय भय से काँपने लगते हैं,
> क्योंकि बहुत ही कम दूर हैं अब वे मृत्यु के चंगुल से।

अरतुस[34] ने भी इसी कथन को बदलकर अपना काम निकालने का प्रयत्न किया है :

और एक पतला तख्ता उन्हें मौत से बचा रहा है।

किंतु उसने भीषण की अपेक्षा इसे तुच्छ और स्वच्छ बना दिया है। इसके अतिरिक्त उसने यह कहकर कि 'एक तख्ता उन्हें मौत से बचा रहा है', संकट को परिसीमित कर दिया है। क्योंकि आखिर बचा तो रहा है ! किन्तु होमर एक क्षण के लिए भी दृश्य की भयावहता को सीमित नहीं करता, वरन् निरंतर संकटापन्न मनुष्यों का स्पष्ट चित्र अंकित करता है जो प्रत्येक उमड़ती हुई तरंग के साथ मौत के मुँह के पास पहुँच जाते हैं। इसके अतिरिक्त उसने अस्वाभाविक रीति से ज़बर्दस्ती ऐसे परसर्गों को एकत्र कर दिया है जो साधारणतः एक-दूसरे के साथ संयुक्त नहीं होते। इस प्रकार उसने अपनी पंक्तियों को आसन्न संकट के अनुरूप ढाल लिया है, छन्द के आकुंचन द्वारा विपत्ति को सुन्दरता के साथ चित्रित किया है और संकट के आकार और दबाव तक को शब्दावली पर मुद्रित कर दिया है। यही बात आर्खिलोखुस[35] द्वारा जहाज़ टूटने के वर्णन के बारे में और देमोस्थेनेस (डेमोस्थनीज़) द्वारा वर्णित उस प्रसंग के बारे में भी सही है जो 'जब सन्ध्या हो गई थी' शब्दों से प्रारम्भ होता है और जिसमें समाचार के लाये जाने का वर्णन है। यह कहा जा सकता है कि इन लेखकों ने सारवान् तथ्यों को ही लेकर सन्निबद्ध कर दिया है—किसी हलके, क्षुद्र अथवा हीन प्रसंग का समावेश नहीं किया क्योंकि ये दोष सम्पूर्ण रचना के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं जैसे परस्पर समानुपाती प्राचीरों से मण्डित भव्य, सुनिर्मित प्रासादों के बीच कोई दरारें डाल दे।

(११)

ऊपर जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उन्हीं से सम्बन्धित एक और भी गुण है जिसे 'विस्तारणा' कहा जा सकता है। इस

अलंकार का प्रयोग उस समय होता है जब कि किसी समाख्यान अथवा विधि-सम्बन्धी तर्कणा के प्रत्येक भाग में बहुतसे आरम्भ एवं विराम-स्थलों की सम्भावना हो और उदात्त पदावली, एक के बाद एक, अविच्छिन्न तथा उत्तरोत्तर क्रम से आती जाए। ऐसा या तो साधारण तथ्यों को आलंकारिक रीति से प्रस्तुत करने से होता है या घटनाओं अथवा युक्तियों को प्रबलता से प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सघनता की सृष्टि कर या फिर तथ्यों अथवा आवेगों की क्रमबद्ध प्रस्तुति के द्वारा। वास्तव में 'विस्तारणा' के असंख्य प्रकार हो सकते हैं। वक्ता को केवल प्रत्येक समय यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कोई भी उपाय उदात्त तत्त्व से अलग होकर अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है। यदि दया-भाव जागृत करना हो अथवा किसी विपक्षी को अप्रतिभ करना हो तो बात दूसरी है। 'विस्तारणा' के किसी भी प्रयोग में से यदि उदात्त तत्त्व को निकाल दिया जाए तो यह ऐसा होगा जैसे शरीर में से आत्मा को निकाल देना—क्योंकि 'उदात्त' के सुदृढ़ आधार पर स्थित हुए बिना 'विस्तारणा' के वेग की तीव्रता और उसका सार तुरन्त नष्ट हो जाता है। किन्तु स्पष्टीकरण के लिए इस बात की ठीक-ठीक व्याख्या करना आवश्यक है कि हमारी यह वर्तमान स्थापना सर्वप्रमुख धारणाओं को चुनने और उनको समन्वित करने से सम्बद्ध पिछली स्थापना से किस प्रकार भिन्न है और उदात्त तत्त्व तथा 'विस्तारणा' में साधारणतः क्या अंतर है।

(१२)

इस विषय में भाषण-शास्त्र के लेखकों की व्याख्याओं से मुझे सन्तोष नहीं है। उनका कथन है कि 'विस्तारणा' वह उक्ति-कौशल है जिससे विषय को गरिमा प्राप्त होती है। किन्तु यह व्याख्या औदात्त्य, आवेग और आलंकारिक भाषा तीनों ही के विषय में समान रूप से घट सकती है क्योंकि इनके द्वारा भी किसी न किसी रूप

में वाणी को गरिमा प्राप्त होती है। मेरे विचार से उनमें अन्तर यही है कि औदात्त्य का तो प्राण-तत्त्व होता है ऊर्जा और विस्तारणा में विवरण-विस्तार रहता है। अतएव औदात्त्य प्रायः किसी एक विचार में ही निहित रहता है, जबकि 'विस्तारणा' का सम्बन्ध साधारणतः विस्तार और प्राचुर्य से जोड़ा जाता है। संक्षेप में कहा जाए तो 'विस्तारणा' किसी विषय के समस्त अंगों और अंगभूत प्रसंगों के समुदाय का नाम है जिससे विषय के विस्तार द्वारा युक्ति में बल आता है और जो प्रमाण से इस बात में भिन्न है कि प्रमाण जहाँ विवेच्य विषय को सिद्ध करता है······

प्लतोन (प्लेटो) अपनी अपार भाव-सम्पत्ति द्वारा मानो किसी समुद्र की भाँति चारों ओर फैलकर महान् आयाम धारण कर लेता है। मेरे अनुमान से यही कारण है कि वक्ता (देमोस्थेनेस), आवेगों को उद्बुद्ध करने की क्षमता अधिक होने के कारण, अपनी वाणी में तेजस्वी आत्मा की समस्त दीप्ति प्रकट करता है। दूसरी ओर प्लतोन (प्लेटो) के बारे में, जिसको गर्व और भव्य गरिमा का सुदृढ़ आधार प्राप्त है, यह तो आरोप नहीं किया जा सकता कि उसमें भाव की ऊष्मा नहीं है, किन्तु निश्चय ही उसमें वह प्रवेग नहीं है। और, मित्र तेरेन्तिआनुस, मुझको यह लगता है कि इन्हीं सब बातों में (यदि यह मानकर चलें कि हम यूनानियों को इस विषय पर अपना मतामत व्यक्त करने का अधिकार है) सिसेरो[31] उदात्त प्रसंगों में देमोस्थेनेस से भिन्न है क्योंकि जहाँ देमोस्थेनेस में अधिकतर परुष औदात्त्य मिलता है, वहाँ सिसेरो में प्राचुर्य की प्रधानता है। हमारे वाग्मी वक्ता (देमोस्थेनेस) की तुलना बिजली की कड़क अथवा चमक से की जा सकती है क्योंकि वह अपने वेग से और अपनी गति, शक्ति एवं तीव्रता से मानो अग्नि द्वारा प्रत्येक वस्तु को भस्म कर देता है अथवा उसे अपने साथ उड़ा ले जाता है। दूसरी ओर मुझे लगता है कि सिसेरो चतुर्दिक् फैली

हुई ज्वाल-मालाओं की भाँति है जिसकी सर्वभक्षी लपटें आगे बढ़ती ही जाती हैं, जिसके अन्तर का प्रचुर और अनन्त अग्निपुंज कभी समाप्त नहीं होता, जो कभी यहाँ दिखाई पड़ता है कभी वहाँ, और जो एक अटूट क्रम से निरन्तर बढ़ता ही रहता है।

इस बात का निर्णय तुम स्वयं ही अधिक अच्छा कर सकोगे। किन्तु देमोस्थेनेस की उद्दीप्त ऊर्जा का अवसर उन प्रसंगों में आता है जहाँ अभिव्यक्ति की तीव्रता और आवेगों की प्रबलता हो और जहाँ श्रोताओं को पूर्णतः अभिभूत करना अभीष्ट हो। सिसेरो की प्रचुरता ऐसे स्थलों पर खुल खेलती है जहाँ श्रोता को शब्दों की बाढ़ में बहा ले जाना आवश्यक हो, क्योंकि यह अलंकार साधारण तथ्यों के वर्णन के लिए, अधिकतर लम्बे विवरण तथा विषयांतर-वर्णन के लिए, इतिहास, प्रकृत विज्ञान तथा साहित्य के अन्य कई विभागों से सम्बद्ध लेखन-शैली के लिए उपयुक्त है।

(१३)

विषयान्तर को छोड़ अब मुख्य विषय पर आयें। इस प्रकार यद्यपि प्लतोन (प्लेटो) की वाणी प्रशांत धारा की भाँति बहती रहती है, फिर भी ऊर्जा विद्यमान है। यह बात तुम स्वयं जानते हो, क्योंकि तुमने 'गणतंत्र'[3] पढ़ा है और तुम प्लतोन की शैली से परिचित हो। उसने लिखा है, "जो लोग बुद्धि-विवेक एवं सद्गुण से विहीन हैं और मद्यपान के समारोहों तथा अन्य ऐसे ही स्थानों पर सदा उपस्थित रहते हैं, वे मानो पतन की ओर बढ़ते चले जाते हैं और आजीवन इसी प्रकार भटकते रहते हैं। वे कभी ऊपर सत्य की ओर नहीं देखते, न कभी अपना मस्तक ऊँचा करते हैं, और न कभी किसी शुद्ध एवं स्थायी आनन्द का ही उपभोग कर पाते हैं। उनकी आँखें सदा पशुओं की भाँति नीचे की ओर धरती पर—अपने चरागाह पर लगी रहती हैं। वे खाते-पीते हैं, मोटे होते हैं, सन्तान-वृद्धि करते रहते हैं और इन्हीं सुखों की अमिट लालसा के

कारण लोहे के सींगों खुरों को फटकारते और इधर-उधर मारते रहते हैं और तृष्णा में लीन एक-दूसरे का विनाश करते रहते हैं।"

यदि हम ध्यान देने को प्रस्तुत हों तो यह लेखक इस बात को प्रकट करता है कि उदात्त की सिद्धि के अब तक हम जितने मार्ग बता चुके हैं, उनके अतिरिक्त एक मार्ग और भी है। वह मार्ग क्या है और किस प्रकार का है? वह है पूर्ववर्त्ती महाकवियों और लेखकों के अनुकरण और स्पर्धा का। और मेरे मित्र, यह ऐसा उद्देश्य है जिसके प्रति हमें निरन्तर प्रयत्नशील होना चाहिए क्योंकि बहुतसे व्यक्ति दूसरों की आत्मा से इतने प्रभावित हो जाते हैं मानो उन्हें स्वयं प्रेरणा मिली हो। इस सम्बन्ध में प्युथिआ की एक पुजारिन के बारे में कथा है कि जब वह दिव्य वाष्प छोड़नेवाली धरती की दरार के पास वेदी के निकट पहुँचती तो अलौकिक शक्ति से अंतर्व्याप्त होकर तुरन्त दैवी प्रेरणा से भविष्यवाणी करने लगती थी। इसी प्रकार प्राचीन युग के महापुरुषों की आत्माओं से (पवित्र गुफाओं की भाँति ही) उनका अनुकरण करनेवालों के हृदय में ऐसी धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं, जिनसे वे लोग भी जो बाहर से प्रेरणा ग्रहण करने में असमर्थ-से लगते हैं, अनुप्राणित हो उठते हैं और दूसरों की महानता के जादू से अभिभूत हो जाते हैं। क्या हेरोदोतुस ही होमेरस (होमर) का एकमात्र सच्चा अनुयायी था? नहीं, उससे भी पहले स्तैसीखोरुस[३८] और आर्खिलोखुस और इन सबसे अधिक स्वयं प्लतोन (प्लेटो) होमर के महान् कोष से असंख्य निधियाँ प्राप्त कर चुके थे। और यदि अम्मोनिउस[३९] तथा उसके अनुयायियों ने इस विषय में सारी सामग्री एकत्र न कर दी होती तो शायद हमें उद्धरण देकर इस बात को प्रमाणित करने की आवश्यकता होती। यह क्रिया साहित्यिक चोरी नहीं; यह तो किसी सुन्दर आकृति अथवा मूर्ति से या अन्य कलाकृतियों से भाव-बिम्ब ग्रहण करने के समान है। और मुझे लगता है कि यदि प्लतोन (प्लेटो) ने

अपने मन और मस्तिष्क को एकाग्र कर होमर पर विजय प्राप्त करने के लिए संघर्ष न किया होता, यदि वह एक ऐसे तरुण योद्धा की भाँति मैदान में न उतरा होता जो किसी लोकप्रिय वीर से टक्कर लेता है और कदाचित् अपने अत्यधिक उत्साह-प्रदर्शन के कारण एक-आध बार (तलवार तुड़वा बैठने) परास्त होने पर भी उस संघर्ष से लाभान्वित होता है, तो उसके दार्शनिक सिद्धान्तों में इतनी परि-पूर्णता प्रस्फुटित न होती और वह इस प्रकार अनेक स्थलों पर अपने वर्ण्य विषय तथा अभिव्यक्ति को इतना काव्यात्मक न बना पाता। क्योंकि जैसा हेसिओद ने कहा "यह संघर्ष मर्त्यों के लिए उत्तम है।" और सचमुच गौरव-मुकट के लिए ऐसा ही संघर्ष भव्य और विजय के उपयुक्त होता है जिसमें अपने पूर्ववर्ती से पराजित होना भी कोई अपमान की बात न हो।

(१४)

इसीलिए यह उचित है कि हम स्वयं भी जब किसी ऐसे तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हों, जिसके लिए उदात्त अभिव्यंजना और ऊर्जित धारणा की आवश्यकता हो, तो हमें अपने मन में यह कल्पना करनी चाहिए कि होमेरस (होमर) इसी बात को किस प्रकार कहता, अथवा प्लतोन (प्लेटो), देमोस्थेनेस या इतिहासकार थुक्युदिदेस[४०] उसे किस प्रकार उदात्त रूप प्रदान करता। क्योंकि ये महापुरुष हमारे सामने प्रकट होकर, हमारे उत्साह को प्रज्वलित कर और एक प्रकार से हमारे मार्ग को आलोकित कर किसी गूढ़ रीति से हमारे मस्तिष्क को औदात्त्य के उन उच्च स्तरों तक ले जाएँगे जो हमारे भीतर बिम्बित हैं। इससे भी अधिक उपयोगी अपने मन में यह प्रश्न करना होगा कि "यदि होमर अथवा देमोस्थेनेस यहाँ उपस्थित होते और मेरा यह कथन सुनते तो वे इसे किस प्रकार ग्रहण करते और उनके ऊपर इसका क्या प्रभाव होता ?" क्योंकि यदि हम अपनी उक्तियों के लिए सचमुच ऐसे ही न्यायाधिकरण

और प्रेक्षागृह की कल्पना कर लें और यह सोचें कि ऐसे-ऐसे महारथी निर्णायक और साक्षी के रूप में हमारी रचनाओं को कसौटी पर कस रहे हैं, तो सचमुच यह बड़ी ही कठोर परीक्षा होगी। यदि हम यह प्रश्न भी जोड़ लें तो प्रोत्साहन और भी अधिक होगा : "मेरी इस प्रकार की रचनाओं को आने वाला प्रत्येक युग किस प्रकार से ग्रहण करेगा?" किन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसी बात करने के विचार तक से घबराता हो जो स्वयं उसके जीवन और युग की सीमा का अतिक्रमण कर सके, तो उसकी धारणाओं को निश्चय ही अपूर्ण, दृष्टिहीन और एक प्रकार से समय से पूर्व उत्पन्न मानना चाहिए क्योंकि उनमें किसी भी भाँति ऐसी परिपूर्णता नहीं होगी जो भावी युगों में कीर्ति प्रसार के लिए आवश्यक है।

(१५)

इसके अतिरिक्त, मेरे तरुण मित्र, बिम्ब (या कल्पना-चित्र) भी, प्रवक्ता की भाँति, गरिमा, ऊर्जा और शक्ति के सम्पादन में बहुत-कुछ सहायता करते हैं। इस अर्थ में कुछ लोग उन्हें मानसिक प्रतिकृति कहते हैं। सामान्यतः बिम्ब (अथवा कल्पना-चित्र) की संज्ञा मन के प्रत्येक ऐसे विचार को दी जाती है जो चाहे किसी रूप में प्रकट होने पर भी वाणी को प्रस्फुरित करता है। पर आजकल यह शब्द मुख्यतः ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त होता है जहाँ उत्साह और आवेग में आकर हम सोचते हैं कि जो कुछ हम वर्णन कर रहे हैं उसे साक्षात् देख रहे हैं और अपने श्रोताओं के आगे भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त तुम यह जानते हो होगे कि कल्पना-चित्र का वक्ता के लिए एक उपयोग है और कवि के लिए दूसरा। जहाँ काव्य के क्षेत्र में कल्पना-चित्र का उद्देश्य अभिभूत करना है, वहाँ भाषण के अंतर्गत उसका उद्देश्य होता है प्रत्यक्ष वर्णन करना। किन्तु आवेगों और भावनाओं को तो दोनों ही उद्बुद्ध करते हैं।

मां !—तेरे पैरों पड़ता हूँ, मेरी ओर मत बुला
उन कुमारियों को, रक्त-नयना और भुजंगकेशिनी !
वह देखो !—वह देखो ! —वे आ पहुँचीं—मेरे ऊपर झपटीं !

और

आह ! वे मुझे मार डालेंगी ! मैं कहां भागूं ?

इन दृश्यों में स्वयं कवि ने असुरांगनाओं को कल्पना में प्रत्यक्ष देखा है और अपने पाठकों को भी अपने मन के बिम्ब को देखने के लिए लगभग विवश कर दिया है। एउरिपिदेस[४१] प्रेमावेश और पागलपन, इन दोनों भावनाओं को अधिक से अधिक त्रासद रूप देने के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील रहता है। शायद अन्य किसी क्षेत्र की अपेक्षा इस विषय में उसे सफलता अधिक मिलती है, यद्यपि उसमें कल्पना के अन्य समस्त क्षेत्रों पर भी आक्रमण करने का साहस पर्याप्त मात्रा में है। स्वभाव में औदात्त्य का अभाव होते हुए भी वह अनेक प्रसंगों में अपनी प्रतिभा से करुणा के उच्चतम शिखरों को छू लेता है और औदात्त्य के सम्बन्ध में सभी स्थलों पर (होमेरस के शब्दों में कहें तो) उसके बारे में यह सत्य है कि :

घोड़े की पूंछ उसकी पसली और बगल के ऊपर दायें-बायें कोड़े की तरह पड़ रही है,
और वह और भी विक्षिप्त हो उठता है, और उसे युद्ध के लिए प्रेरित करता है।

फएथोन[४२] के हाथ में घोड़ों की रास देते समय सूर्य कहता है :

तू, हाँकते हुए, लिबिआ के आकाश को पार न करना,
ओस से अनभिषिक्त उसका ताप
तेरे रथ के टुकड़े-टुकड़े कर देगा।

और फिर उसके बाद :

शीघ्रतापूर्वक सातों प्लेइअद बहिनों[४३] की ओर जाना।
इतना ही कुमार ने सुना : फिर उसने रासें छीन लीं :
उसने कोड़े फटकारे उन पक्षधर अश्वों के ऊपर;

रास ढीली हुई; और वे मेघलोक के भीतर उड़ चले।
ठीक पीछे एक ज्वलंत सितारे पर
उसका पिता आरूढ़ था, अपने पुत्र को परामर्श देता हुआ—
ए! उधर चलो!
उस ओर रथ को मोड़ो—उस ओर!

क्या तुम नहीं कहोगे कि लेखक की आत्मा फएथोन के साथ-साथ ही रथ में प्रवेश कर जाती है और उसके जोखिम तथा घोड़ों के वायु-वेग का समानुभव करने लगती है? क्योंकि यदि उसने उतने ही वेग से आकाश की यात्रा न की होती तो ऐसे चित्र की कल्पना करना सम्भव नहीं था। एउरिपिदेस ने कस्सन्द्रा[४४] से जो शब्द कहलवाये हैं, उनके बारे में भी यही बात सही है।

ओ रथ-प्रेमी त्रिअवासियो!

ऐस्ख्युलुस[४५] भी इसी प्रकार अत्यंत ओजस्वी कल्पना-चित्र प्रस्तुत करता है। इसका एक उदाहरण उसकी 'थेबेस के सात शत्रु'[४६] नामक रचना में मिलता है, जहाँ वह कहता है:

क्योंकि सात वीरों ने, दुर्द्धर्ष गुल्म-नायकों ने,
काली ढाल लेकर एक वृषभ को मारा है,
और वृषभ के रक्त में हाथ डुबाकर प्रत्येक ने
आरेस[४७] और एन्यो[४८] की, और रक्त के प्रेमी पैनिक[४९] की
शपथ ली है।

परस्पर निष्ठापूर्वक एक साथ शपथ लेकर उन्होंने अपने आपको एक क्रूर नियति के हाथों पूरी तरह सौंप दिया था। किन्तु कभी-कभी वह ऐसे भी विचार सामने ले आता है जो अनगढ़, परिष्कार-हीन और कर्कश होते हैं; और एउरिपिदेस जब स्पर्धा की भावना से प्रेरित होता है तो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के बावजूद वह बहुत कुछ इसी दोष के समीप आ जाता है। इस प्रकार ऐस्ख्युलुस ने दिओन्युसुस[५०] के आगमन के अवसर पर ल्युकुर्गस के महल को विचित्र प्रकार से भावाविष्ट दिखाया है।

कक्ष आवेश से कांप रहे हैं : छतें हर्ष से उन्मत्त हो उठी हैं।

एउरिपिदेस में भी दूसरे शब्दों में इसी विचार की प्रतिध्वनि मिलती है—यद्यपि यह सही है कि उसका फूहड़पन कुछ कम हो गया है। वह कहता है :

समस्त पर्वत उनके हर्षोल्लास से नाच उठा था।

सोफोक्लेस ने ओइदिपुस[५१] (ईडिपस) की मृत्यु के भव्य चित्र प्रकल्पित किये हैं जिनमें वह आकाश के बीच उसके अन्तिम संस्कार की तैयारी करता है। इसी प्रकार वह स्थल भी भव्य है जहाँ यूनानी जहाज़ों में बैठकर चलने को उद्यत हैं और अखिल्लेस (एचिलीज़) समुद्र-यात्रा के लिए तैयार होने वाले लोगों के सामने अपनी समाधि के ऊपर प्रकट होता दिखाई पड़ता है। इसी दृश्य का सिमोनीदेस[५२] ने भी वर्णन किया है और मुझे सन्देह है कि उससे अधिक विशद वर्णन कोई और कर पाया है या नहीं। किन्तु यहाँ इस प्रसंग के सभी उदाहरणों को, जो मेरे मन में आ रहे हैं, प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। यह निस्सन्देह सत्य है कि कवियों में प्राप्त उदाहरणों में, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और उनके वर्णन इतने काल्पनिक हो जाते हैं कि विश्वसनीयता की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। किन्तु भाषण-सम्बन्धी अप्रस्तुत-विधान का सबसे उत्तम गुण है यथार्थता और सत्यता। जब भी भाषण काव्यात्मक एवं काल्पनिक हो उठता है और हर प्रकार के सम्भव-असम्भव का चित्रण करने लगता है तो ऐसे प्रसंग सदा ही विचित्र और अजनबी-से लगते हैं। उदाहरण के लिए हमारे आज के चतुर वक्ताओं को अपने त्रासदी-लेखकों की भाँति हीं असुरांगनाएँ दिखाई पड़ती हैं और वे महापुरुष इतना भी नहीं समझते कि जब ओरेस्तेस[५३] यह कहता है—

मेरे हाथ खोल दो।—तू मुझे सताने वाला प्रेत है—
मेरी कमर पकड़कर नरक में फेंकना चाहता है!

तो उसके दिमाग़ में ये कल्पनाएँ इसलिए आती हैं क्योंकि वह विक्षिप्त है। तो फिर भाषण-सम्बन्धी अप्रस्तुत-विधान का क्या उद्देश्य हो सकता है? वास्तव में यह विधान कई प्रकार से भाषित शब्दों में तीव्रता और आवेग का समावेश कर सकता है, और जब विशेष रूप से ऐसे प्रसंगों में उसका प्रयोग होता है जिनमें तर्क की प्रधानता है, तो वह श्रोताओं का न केवल अनुनय ही करता है बल्कि उन्हें वास्तव में अपना दास बना लेता है। एक उदाहरण देखिए।

देमोस्थेनेस कहता है: "यदि इसी क्षण न्यायालयों के सामने एक ज़ोर की चीख़ सुनाई पड़े, और हमें यह बताया जाय कि कारागार खुले पड़े हैं और बन्दी सब भाग निकले हैं तो कोई भी, चाहे वह वृद्ध हो या तरुण, इतना असावधान नहीं हो सकता कि यथाशक्ति सहायता करने के लिए प्रस्तुत न हो जाय। यही नहीं, और कोई यदि सामने आकर यह कहे कि अमुक व्यक्ति ने उनके निकल भागने में सहायता की है तो अपराधी को तुरन्त ही बिना किसी सुनवाई के मौत के घाट उतार दिया जाएगा।" इसी प्रकार जब महान् पराजय के पश्चात् दासों को मुक्त कर देने के प्रस्ताव के कारण ह्यूपेरिदेस[५४] के विरुद्ध दोषारोपण किया गया, तो उसने कहा था, "यह प्रस्ताव वक्ता ने नहीं खैरोनेइआ के युद्ध ने प्रस्तुत किया है।" वक्ता ने यहाँ एकसाथ ही एक विशेष तर्क-पद्धति और कल्पना दोनों का सहारा लिया है। इसलिए अपनी कल्पना की निर्भीकता के कारण वह अनुनय मात्र की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। इन समस्त विषयों में हम एक प्रकार के नैसर्गिक नियम के अनुसार सदा ही प्रबलतर वस्तु की ओर ध्यान पहले देते हैं। इसी कारण से किसी सहज और सीधे वर्णन की अपेक्षा हम तुरन्त ही ऐसे विलक्षण कल्पना-चित्र की ओर आकर्षित हो जाते हैं जिसके तीव्र प्रकाश में युक्ति छिपी होती है। और यह कोई अनुचित नहीं है कि हम

पर इस प्रकार का प्रभाव पड़े क्योंकि जब दो वस्तुएँ एकसाथ आती हैं तो प्रबल वस्तु दुर्बल के गुण को अपने में खींच लेती है। आत्मा की महानता अथवा अनुकरण या कल्पना-विधान से उत्पन्न विचारगत औदात्त्य के उदाहरणों के सम्बन्ध में इतना पर्याप्त होगा।

(१६)

किन्तु यहीं पर क्रमानुसार अलंकारों के स्थान का प्रश्न उठता है। क्योंकि यदि उनका उचित रीति से उपयोग किया जाए तो, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उनसे औदात्त्य की सिद्धि में कम सहायता नहीं मिलती। पर इस समय उन सबके बारे में पूर्ण विवेचन करना बहुत बड़ा काम हो जाएगा या यों कहें कि वह कभी पूरा ही न हो पाएगा, इसलिए अपनी स्थापना को सिद्ध करने के उद्देश्य से हम उनमें से कुछेक ऐसे अलंकारों पर ही विहंगम दृष्टि डालेंगे जिनसे भाषा ओजस्वी बनती है।

देमोस्थेनेस अपनी सार्वजनिक नीति का युक्तिसंगत समर्थन प्रस्तुत करना चाहता था। उसने स्वभावतः अपने विषय का जिस रूप में प्रतिपादन किया वह इस प्रकार का था : "आप लोग, जिन्होंने यूनान की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया, ग़लती पर नहीं थे। आन्तरिक स्थिति को देखते हुए आपके लिए यह आवश्यक था। मरथोन के योद्धाओं ने अथवा सलमिस अथवा प्लतेइआ के योद्धाओं ने कोई भूल नहीं की है।" किन्तु जब मानो एकाएक दैवी प्रेरणा प्राप्त कर और जैसे भविष्यवाणी के देवता से आविष्ट होकर वह यूनान के संरक्षक वीरों की प्रसिद्ध शपथ लेता है 'निस्सन्देह आप लोगों ने कोई भूल नहीं की, यह बात मैं उन लोगों की शपथ लेकर कहता हूँ जो मरथोन पर संकट के सामने सीना ताने खड़े थे,' तो जनता की दृष्टि में इस शपथोक्ति अलंकार के द्वारा (जिसे मैं 'सम्बोधन' कहता हूँ) वह अपने पूर्वजों को देव-कोटि में प्रतिष्ठित कर देता है। वह यह विचार मन में बैठा देता है कि हमें ऐसी भव्य

मृत्यु प्राप्त करने वालों की देवताओं की भाँति ही शपथ लेनी चाहिए; वह निर्णायकों के मन में वैसी ही ओजस्वी भावनाएँ भर देता है जैसी कि उस खतरे को सीने पर झेलने वालों के मन में उदित हुई होंगी। इस प्रकार युक्ति के सहज क्रम को एक अपूर्व औदात्त्य और आवेग प्रदान कर देता है—साथ ही उसमें ऐसा सुदृढ़ विश्वास भर देता है जो इस प्रकार की विचित्र एवं विलक्षण शपथों के द्वारा उत्पन्न होता है। वह अपने श्रोताओं के मन में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न कर देता है—जो रोग के उपचार और प्रतिकार दोनों का कार्य करता है—कि उन्हें इन प्रशस्तियों के द्वारा आत्मोत्कर्ष प्राप्त कर फिलिप के विरुद्ध संग्राम में भी उसी प्रकार गर्व का अनुभव करना चाहिए जिस प्रकार मरथोन और सलमिस की विजय में। इन सब उपायों से केवल एक अलंकार का प्रयोग कर वह अपने श्रोताओं को पूर्णतः अपने साथ बहा ले जाता है।

वास्तव में कहा यह जाता है कि इस सौगन्ध का मूल एउ-पोलिस[५५] की रचना में पाया जाता है :

> क्योंकि मैं मरथोन में प्राप्त विजय की शपथ खाकर कहता हूँ :
> कोई यदि मेरी आत्मा को कष्ट पहुँचाएगा तो विना पछताये न रहेगा।

किन्तु अकस्मात् ही किसी व्यक्ति को सौगन्ध खाना इतना उदात्त नहीं है, उदात्तता तो स्थान, ढंग, परिस्थिति और उद्देश्य के ऊपर निर्भर करती है। अब, एउपोलिस के उद्धरण में निरी शपथ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और यह शपथोक्ति अथेनियों के समक्ष उस समय की गई थी जब वे समृद्ध ही थे और उन्हें किसी सान्त्वना की आवश्यकता ही न थी। इसके अतिरिक्त कवि ने अपनी उक्ति में मनुष्यों को ऐसी कोई दिव्यता प्रदान नहीं की है जिससे श्रोताओं में उनके शौर्य की समुचित धारणा उत्पन्न हो सके, बल्कि वह खतरे के सामने सीना ताने खड़े हुए सप्राण व्यक्तियों को छोड़ युद्ध जैसी निर्जीव वस्तु की ओर भटक गया है। देमोस्थेनेस की

शपथोक्ति पराजित व्यक्तियों के लिए इस उद्देश्य से रची गई है कि अथेनी जनता अब खैरोनेइआ के युद्ध को पराजय न समझे। जैसा मैं कह चुका हूँ, वह एकसाथ ही उनके सामने इस बात की व्याख्या करता है कि उन्होंने कोई भूल नहीं की, एक उदाहरण और सौगन्ध का निश्चित प्रमाण भी देता है और प्रशस्ति तथा उपदेश भी करता है, क्योंकि वक्ता को इस प्रकार की आपत्ति होने का डर था : "आप बात तो अपने शासन में होने वाली 'पराजय' की कर रहे हैं, और शपथ 'विजय' की करते हैं।" इसलिए वह बाद के वाक्यों में अलग-अलग शब्दों को भी तोल कर कहता है और उन्हें ऐसी निर्भ्रान्त रीति से चुनता है जिससे यह प्रकट होता है कि कल्पना-विलास में भी संयम आवश्यक है। उसके शब्द हैं : "जो लोग मरथोन में संकट के सामने सीना ताने खड़े थे, जो लोग सलमिस और अर्तेमीसिउम के समुद्र में लड़े थे और जो प्लतेइआ की सैन्य-पंक्तियों में उपस्थित थे।" कहीं भी वह इन शब्दों का प्रयोग नहीं करता कि "उन्होंने विजय प्राप्त की थी", बल्कि हर अवसर पर वह युद्ध के परिणाम के प्रत्येक संकेत को बचा जाता है, क्योंकि वह परिणाम तो शुभ था और जो कुछ खैरोनेइआ में हुआ उसके सर्वथा विपरीत था। इसलिए वह तुरन्त आगे बढ़कर श्रोता को अपने साथ बहा ले चलता है। वह कहता है : "ऐसखिनेस[५१], राज्य की ओर से केवल सफल व्यक्तियों को ही नहीं बल्कि उन सभी को सार्वजनिक समाधि-संस्कार का गौरव प्रदान किया गया था।"

(१७)

मेरे मित्र, यहाँ यह उचित होगा कि मैं अपनी एक धारणा को व्यक्त कर दूँ जिसे मैं बहुत ही संक्षेप में प्रस्तुत करूँगा। वह यह है कि एक प्रकार के प्राकृतिक नियम के अनुसार अलंकार औदात्त्य को अवलम्ब प्रदान करते हैं और बदले में वे स्वयं भी उससे अद्भुत बल प्राप्त करते हैं। कहाँ और कैसे, यह मैं अभी स्पष्ट करूँगा। अलंकारों

के चतुर प्रयोग से सदा एक विचित्र प्रकार का सन्देह उत्पन्न हुआ करता है और उससे एक प्रकार के छिपाव, षड्यन्त्र और हेत्वाभास का प्रभाव उत्पन्न होता है । यदि अभिकथन किसी सम्पूर्ण-अधिकार-प्राप्त न्यायाधीश अथवा निरंकुश शासक, राजा तथा प्रतिष्ठित नेता को सम्बोधित कर किया जाय तो भी ऐसा ही होता है । ऐसे व्यक्ति को यदि एक मूर्ख बालक की भाँति वाक्-कौशल के क्षुद्र अलंकारों द्वारा प्रवंचित करने का प्रयत्न किया जाय तो वह तुरंत रुष्ट हो जाता है । अलंकार के हेत्वाभास को व्यक्तिगत अपमान के रूप में ग्रहण कर कभी-कभी वह क्रोध से एकदम विक्षिप्त हो उठता है या फिर क्षोभ को संयत कर उन अनुनयात्मक शब्दों से किसी प्रकार प्रभावित न होने के लिए पूर्णतः दृढ़संकल्प हो जाता है । इसीलिए अलंकार का सबसे सफल प्रयोग वह है जहाँ इस बात पर भी किसी का ध्यान न जाय कि यह अलंकार है । इसीलिए अलंकारों के प्रयोग से जो सन्देह उत्पन्न होता है, उसके विरुद्ध औदात्त्य तथा आवेग प्रतिकार भी हैं और बड़ी भारी सहायता भी । एक बार सौन्दर्य और औदात्त्य के साथ सम्बद्ध हो जाने पर उनका कुशल प्रयोग करने वाली कला छिप जाती है और समस्त सम्भाव्य सन्देह से बच जाती है । पर्याप्त प्रमाण उक्त अवतरण में ही मिल जाता है । "मरथोन के योद्धाओं की सौगन्ध खाता हूँ ।" यहाँ वक्ता ने किस उपाय से अलंकार को छिपाया है ?—स्पष्ट ही अत्यधिक प्रकाश के द्वारा । क्योंकि जिस प्रकार सूर्य के प्रखर आलोक में सभी मंद दीपक बुझ जाते हैं, उसी प्रकार 'उदात्त' के सर्वव्यापी ऐश्वर्य में नहाकर सभी आलंकारिक चमत्कार दृष्टि से ओझल हो जाते हैं । बहुत कुछ ऐसी ही बात चित्रकला में भी होती है । क्योंकि यद्यपि रंगों के रूप में छाया और प्रकाश एक ही तल पर पास-पास वर्तमान होते हैं, तो भी दृष्टि सबसे पहले प्रकाश पर पड़ती है जो न केवल पहले उभर आता है बल्कि अधिक समीप भी जान पड़ता है । यही बात साहित्य

में आवेग और औदात्य की अभिव्यक्ति के विषय में है। वे एक प्रकार के सहज सम्बन्ध के कारण तथा स्वयं अपनी आभा के फलस्वरूप हमारे मन के अधिक निकट रहते हैं और अलंकारों की अपेक्षा, जिनकी कला को वे एक प्रकार से आच्छन्न कर छिपा देते हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान सदा ही पहले जाता है।

(१८)

किन्तु फिर हम प्रश्नालंकार आदि के बारे में क्या कहेंगे ? क्या यह सत्य नहीं है कि इन अलंकारों के प्रत्यक्षकारी गुणों के द्वारा ही देमोस्थेनेस अपने भाषण को कहीं अधिक मार्मिक और प्रभावी बनाने का प्रयत्न करता है ? "कृपा कर मुझे बताइए,—आप श्रीमान्, मुझे बताइए—क्या आप इधर-उधर भटककर एक-दूसरे से यह पूछना चाहते हैं कि कोई समाचार है क्या ? अरे, इससे बड़ा समाचार क्या हो सकता है कि एक मकदूनिआवासी यूनान को वश में किये ले रहा है ? क्या फिलिप मर गया ? नहीं, किन्तु वह रुग्ण है। मृत अथवा रुग्ण, इससे आपके लिए क्या अन्तर पड़ता है ? उसको यदि कुछ हो भी जाय तो आप लोग शीघ्र ही दूसरा फिलिप बनाकर खड़ा कर देंगे।" आगे वह कहता है, "हमें मकदूनिआ पर चढ़ाई कर देनी चाहिए। एक साहब पूछते हैं कि हम जहाज़ से कहाँ जाकर उतरेंगे ? स्वयं युद्ध के द्वारा ही फिलिप की स्थिति के दुर्बल स्थलों का उद्घाटन हो जाएगा।" इन सब बातों को यदि सीधे ढंग से और प्रत्यक्ष शैली के द्वारा कहा जाता तो वे बहुत ही निर्बल जान पड़तीं, किन्तु इस रूप में शब्दों के पीछे छिपी उत्तेजना, प्रश्नोत्तर की सत्वर परम्परा और अपने ही आक्षेपों का इस प्रकार निराकरण करने की योजना मानो वे किसी और की ओर से किये गये हों—इन सब गुणों ने अलंकार की सहायता से भाषा को न केवल अधिक उदात्त वरन् अधिक विश्वासोत्पादक भी बना दिया है। क्योंकि किसी आवेग का उद्गार उस समय अधिक प्रभावशाली होता है जब वह विचार-प्रसूत न होकर

परिस्थिति-प्रेरित जान पड़े, और प्रश्न उठाकर अपने आप ही उनका उत्तर दे देने से भावावेग का विस्फोट स्वाभाविक जान पड़ता है। क्योंकि जब किसी से कोई प्रश्न पूछा जाता है तो वह एक आकस्मिक उत्तेजना का अनुभव करता है और उस प्रश्न का तीखा और बिल्कुल बेलाग उत्तर देने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर अलंकार श्रोता को यह मानने के लिए प्रेरित करता है कि प्रत्येक अभिप्रेत विचार पूर्व-संकल्प के बिना तत्काल ही उदित होकर प्रकट हो रहा है और इस तरह उसकी तर्क-शक्ति को भुलावे में डाल देता है। यहाँ, हम हेरोदोतुस के उस अवतरण को उद्धृत कर सकते हैं जिसे अत्यधिक ओजपूर्ण उदाहरणों में गिना जाता है : "यदि इस प्रकार…।"

(१९)

इससे शब्द योजक कड़ियों के बिना निःसृत होते-से जान पड़ते हैं, मानो वे स्वयं वक्ता को भी पीछे छोड़कर उमड़े पड़ रहे हों। क्सेनोफोन कहता है, "अपनी ढालों को अड़ाकर वे आगे बढ़े, जूझे, शत्रुओं का वध किया, आहत होकर गिर गये।" यही बात एउर्युलोखुस[५७] के शब्दों के विषय में है :

> तुम्हारे आदेश के अनुसार, औद्युस्सेउस, हम ओक-वृक्षों की द्राभा के बीच से चले,
>
> वहाँ वन-कन्दराओं के बीच एक सुन्दर महल हमें मिला।

ये पंक्तियाँ एक-दूसरे से अलग होने पर भी एकसाथ शीघ्रतापूर्वक पढ़ी जाने के कारण ऐसी उत्तेजना का प्रभाव उत्पन्न करती हैं जिससे पदों के बीच का व्यवधान तिरोहित हो जाता है और साथ ही एक उद्दाम वेग फूट पड़ता है। यह प्रभाव होमर ने संयोजक शब्दों को छोड़कर उत्पन्न किया है।

(२०)

किसी साधारण उद्देश्य के लिए अलंकारों की संसृष्टि से

साधारणतः बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ता है : जब दो या तीन अलंकार मानो सहयोगी के रूप में मिलकर शक्ति, प्रभावोत्पादकता तथा सौन्दर्य की अत्यंत श्रीवृद्धि करते हैं। इस प्रकार मेइदिग्रास[५८] के विरुद्ध भाषण में 'शब्दों की पुनरावृत्ति'* और 'प्रत्यक्ष वर्णन'† के उदाहरणों के साथ गुँथे हुए 'अधूरे वाक्यों'‡ के उदाहरण मिलेंगे। "क्योंकि घातक अपनी मुद्रा से, अपनी दृष्टि से और कण्ठ-स्वर से बहुत से काम कर सकता है (जिनमें से कुछेक को तो झेलनेवाला दूसरे को बता तक नहीं सकता)।" इसलिए इस विचार से कि वर्णन आगे बढ़ने के साथ-साथ एक ही गति से न चलता रहे (क्योंकि निरन्तरता शान्ति की सूचक है जब कि आवेग—आत्मा का आवेश और संक्षोभ—अनुक्रम को छिन्न-भिन्न कर देता है), वह तुरन्त ही अन्य अधूरे वाक्यों और पुनरावृत्तियों का सहारा लेता है। "मुद्रा से, दृष्टि से, कण्ठ-स्वर से, वह उद्धत आचरण करता है, वह शत्रु जैसा व्यवहार करता है, अपनी मुट्ठियों से आघात करता है, वह आपकी दास की तरह ताड़ना करता है।" इन शब्दों के द्वारा वक्ता आक्रमणकारी का सा ही प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है—वह न्यायाधीशों के मन पर एक के बाद एक जल्दी-जल्दी आघात करता जाता है। इस स्थल से प्रारम्भ कर तेज़ हवा के झोंके की भाँति अकस्मात् ही वह दूसरा आक्रमण करता है। वह कहता है, "घूँसों के प्रहार से आघात पाकर, गाल पर चोट खाकर। ये सब चीज़ें खून को गर्म कर देती हैं और अपमान के अनभ्यस्त लोग आपे से बाहर हो जाते हैं। उनका वर्णन करके कोई भी उनमें निहित अपमान की तीव्रता को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।" इस प्रकार वह सम्पूर्ण भाषण में 'पुनरावृत्तियों' और 'अधूरे वाक्यों' की वास्तविक प्रकृति को, लगातार रूप-परिवर्तन करता हुआ भी, यथावत् बनाए रखता है। इस प्रकार उसकी व्यवस्था में अव्यवस्था है और दूसरी ओर अव्यवस्था में एक प्रकार की व्यवस्था का तत्त्व विद्यमान रहता है।

---

* अनाफ़ोरा † दिअत्युपोसिस ‡ अस्युनदेतोन

(२१)

अब यदि तुम चाहो तो इन उदाहरणों में इसोक्रतेस के अनुयायियों की भाँति संयोजक पद भी जोड़ सकते हो। "इसके अतिरिक्त इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि घातक बहुतसे काम कर सकता है, पहले मुद्रा द्वारा, फिर दृष्टि द्वारा और फिर केवल कण्ठ-स्वर द्वारा।" तुम अनुभव करोगे कि यदि इन पंक्तियों को इस व्यवस्थित ढंग से रखा जाय तो आवेग की अनगढ़ प्रचंडता इस प्रकार संयोजक शब्दों के प्रयोग से समरूप एवं ऋजु बनकर सर्वथा कुंठित और तुरंत ही निस्तेज हो जाती है। जैसे दौड़नेवालों की आँखों को बाँध देने से उनकी तीव्र गति की शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसा ही आवेग के साथ भी होता है। इसी प्रकार संयोजक पदावली तथा अन्य साधनों की शृङ्खला में बँधकर आवेग छटपटाने लगता है, क्योंकि उसकी आगे बढ़ने की स्वाधीनता और तोप के गोले की तरह वेग से उद्गमन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

(२२)

विपर्यय* अथवा व्यतिक्रम† को भी इसी कोटि में रखना चाहिए। उनमें शब्दों अथवा विचारों के सहज क्रम में उलट-फेर कर दिया जाता है, और यह कहा जा सकता है कि उनके बाह्य रूप पर ही प्रबल भावना की छाप होती है। जिस प्रकार मनुष्य वास्तव में क्रोध, भय, मन्यु, ईर्ष्या अथवा किसी अन्य भावना से (क्योंकि आवेग अनेक और असंख्य हैं और उनकी गणना सम्भव नहीं) उत्तेजित होकर कभी-कभी दूसरी ओर मुँह फेर लेते हैं, अपने मुख्य विषय को छोड़ दूसरे पर लपक उठते हैं और बीच ही में कोई सर्वथा असम्बद्ध बात ले आते हैं, फिर उसी प्रकार अचानक ही

---

* ह्यु परबाता, † इन्वरशन

तेज़ी से घूमकर अपने मुख्य विषय पर लौट आते हैं और वातचक्र की भाँति अपने ही वेग से परिचालित होकर जल्दी-जल्दी इधर-उधर बहकते वे अपनी शब्दावली को, विचारों को और उनके सहज क्रम को नाना प्रकार के असंख्य रूपों में बदलते रहते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ लेखक विपर्यय के द्वारा इस प्रकृत प्रभाव को यथासंभव अभिव्यक्त करते हैं। क्योंकि कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है और प्रकृति तभी अपने उद्देश्य में सफल होती है जब उसके गर्भ में कला छिपी हो। हम इसके उदाहरणस्वरूप हेरोदोतुस द्वारा लिखित फोकाइआ के दिओन्युसिअस के शब्दों को प्रस्तुत कर सकते हैं: "हमारा भाग्य तलवार की धार पर टिका हुआ है, हे आयोनिआवासियो! हमारे सामने दो विकल्प हैं—स्वाधीनता या ग़ुलामी, और वह भी भगोड़े दासों की। इसलिए अब यदि तुम लोग कष्ट सहन करने के लिए प्रस्तुत हो, तो इस समय परिश्रम करना होगा पर अन्त में तुम अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकोगे।" इस उक्ति का स्वाभाविक क्रम इस प्रकार होता, "हे आयोनिआवासियो! यह समय तुम्हारे लिए कष्ट सहन करने का है, क्योंकि हमारा भाग्य तलवार की धार पर टिका हुआ है।" यहाँ पर वक्ता 'आयोनिआवासियो' शब्दों को बाद में लाता है। वह तुरन्त ही परिस्थिति के ख़तरे से अपनी बात प्रारम्भ करता है मानो संकट इतना आसन्न हो कि उसके पास श्रोताओं को सम्बोधित करने का भी समय न हो। इसके अतिरिक्त वह विचारों के क्रम में विपर्यय करता है। क्योंकि यह कहने की बजाय कि उन्हें कष्ट सहन करने चाहिए, जो कि उसकी वक्तृता का वास्तविक उद्देश्य है, वह पहले उस कारण को प्रस्तुत करता है जिसके लिए उनका कष्ट सहन करना आवश्यक है। इस कारण को वह इन शब्दों में व्यक्त करता है, "हमारा भाग्य तलवार की धार पर टिका है।" इसका परिणाम यह है कि उसका कथन पूर्व-विचारित नहीं, बल्कि अवसर की आवश्यकता से प्रेरित जान पड़ता है।

थुक्युदिदेस में यह गुण और भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। वह विपर्यय द्वारा ऐसी वस्तुओं को बड़े साहस और कौशल के साथ अलग-अलग कर देता है जो प्रकृति से ही सहज संयुक्त एवं अविभाज्य हैं। देमोस्थेनेस थुक्युदिदेस के समान निपुण नहीं है, किन्तु वह इस अलंकार का सर्वाधिक उपयोग करता है और विपर्यय-प्रयोग के द्वारा प्रचण्ड वेग का, एवं अ-पूर्वकल्पित भाषण का बड़ा गहरा प्रभाव उत्पन्न करता है, और इस प्रकार वह श्रोताओं को अपने लम्बे-लम्बे विपर्ययों में खींचता ले जाता है। वह प्रायः उस विचार को जिसे अभी अभिव्यक्त करना आरम्भ किया था अधूरा ही छोड़ देता है और उधर ऊपर से असम्बद्ध एवं अस्वाभाविक प्रतीत होनेवाली किसी स्थिति में एक के बाद एक अनेक तथ्यों का, वाक्य के बीच में ही, चाहे जिस बाह्य क्षेत्र से लाकर, ढेर लगा देता है। इस प्रकार श्रोताओं को यह भय होने लगता है कि कहीं उसके शब्दों का समूचा ढाँचा भरभराकर गिर न पड़े, और वे वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त संकट को स्वयं भी बड़ी व्यग्रता एवं सहानुभूति के साथ अनुभव करने के लिए विवश हो जाते हैं। फिर अचानक ही एक लम्बे व्यवधान के बाद वक्ता उपयुक्त स्थान पर, अर्थात् अन्त में दीर्घ प्रतीक्षित निष्कर्ष रख देता है और इस प्रकार विपर्यय के इस अत्यन्त साहसिक एवं कठिन प्रयोग द्वारा कहीं अधिक गहरा प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होता है। इस प्रयोग के अत्यधिक उदाहरण मिलते हैं, अतः उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है।

(२३)

जैसा तुम जानते ही हो, संचयन*, रूप-परिवर्तन† तथा सार‡ नामक अलंकार सार्वजनिक वक्तृता के उत्तम साधन हैं और उनसे औदार्य तथा औदात्त्य और आवेग के प्रत्येक रूप में बड़ी सहायता

---

* एक्यूमुलेशन्स, † वैरिएशन्स, ‡ क्लाइमेक्स

मिलती है । और फिर, कारक, काल, पुरुष, वचन और लिंग के परिवर्तन से विषय के प्रतिपादन में कितनी विविधता और सजीवता आती है ! जहाँ तक वचन का प्रश्न है, मैं यह कहूँगा कि शैली केवल अथवा मुख्यतः उन शब्दों के प्रयोग से ही अलंकृत नहीं होती जो रूप की दृष्टि से एकवचन होने पर भी अर्थ की परीक्षा करने पर बहुवचन सिद्ध होते हैं। जैसे :

असंख्य जन-समूह सहसा—
समुद्र-तट पर दूर-दूर तक एकत्र चीख उठा 'थुन्यु वह रहा !

अधिक ध्यान देने की बात यह है कि कभी-कभी (एकवचन के लिए) बहुवचन का प्रयोग कानों पर और भी गहरा असर डालता है और बहुवचन द्वारा अभिव्यक्त संख्याधिक्य से हमें प्रभावित करता है। सोफोक्लेस में ओइदिपुस (ईडिपस) के शब्द ऐसे ही हैं :

ओह परिणय, परिणय,
तुमने मुझे जन्म दिया, और जन्म देकर
उसी बीज को सबके सामने लाये,
और इस भाँति प्रकट कर दिया
कि पिता, भाई, पुत्र सारे एक ही हैं, एक रक्त हैं
वधुएँ, माताएँ, पत्नियाँ सब एक ही हैं।—
आह, कैसे-कैसे लज्जाजनक कार्य
मानवजाति में होते हैं !

यह समूची गणना एक व्यक्तिवाचक संज्ञा द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है—एक ओर ओइदिपुस (ईडिपस) और दूसरी ओर जोकास्ता[५६]। किन्तु बहुवचन के प्रयोग-विस्तार से दुर्भाग्य के आघातों को भी बहुसंख्यक रूप प्रदान करने में सहायता मिलती है। बहुसंख्यता का ऐसा ही प्रभाव इस पंक्ति में भी है :

हेक्तोर[६०] और सरपेदोन[६१] आगे बढ़ते हुए आये।

यही बात अथेनी नागरिकों से सम्बद्ध प्लतोन (प्लेटो) के उस अनुच्छेद में भी है जिसे हम अन्यत्र उद्धृत कर चुके हैं। "क्योंकि न

कोई पेलोपे न केदमी, न कोई ऐग्युप्ति और न दनाइ, और न अन्य विदेशी समुदाय की कोई सन्तान हमारे साथ रहती है, बल्कि हमारा देश हर प्रकार के विदेशी मिश्रण से मुक्त शुद्ध यूनानियों का है।" यह स्वाभाविक ही है कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को इस प्रकार एक के बाद एक एकत्रित कर देने से कोई भी विषय हमारे कानों को कहीं अधिक सप्रभाव प्रतीत होगा। किन्तु यह ऐसे ही प्रसंगों में करना चाहिए जहाँ विषय के अंतर्गत विस्तारण, अतिरिक्त वर्णन, अतिशयोक्ति अथवा आवेग के लिए—इनमें से किसी एक या अधिक के लिए—अवकाश हो, क्योंकि हम सभी जानते हैं कि इस प्रकार की अतिविभूषित शैली बहुत ही आडम्बर-पूर्ण लगती है।

(२४)

इसके विपरीत बहुसंख्यक वस्तुओं को एकवचन द्वारा प्रकट करने से कभी-कभी बड़ा उदात्त प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। देमोस्थेनेस कहता है, "उसके बाद सारा पैलोपोन्नेसस[६२] परस्पर विरुद्ध हो गया।" "और जब फ्रयुनिखुस[६३] ने 'मिलेतुस की पराजय' नामक नाटक प्रस्तुत किया तो फिर सारे प्रेक्षागृह की आँखों से आँसुओं का प्रवाह उमड़ उठा।" बहुसंख्या को एकवचन द्वारा प्रकट करने से सामूहिक एकता का भाव अधिक पूर्णता के साथ प्रकट होता है। मेरे विचार से उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में उक्ति-सौन्दर्य का एक ही कारण है। जहाँ शब्द एकवचन में हों और उन्हें बहुवचनवाची अर्थ प्रदान किया जाय, वहाँ यह अप्रत्याशित आवेग का चिह्न है; और जहाँ शब्द बहुवचन में हों, वहाँ बहुतसी वस्तुओं के लिए एक सुन्दर एकवचनवाची शब्द का प्रयोग करने से, विपरीत परिवर्तन के कारण, आश्चर्य उत्पन्न होता है।

(२५)

यदि आप बीती बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करें मानो वे वर्त-

मान में हो रही हों तो आपकी कहानी आख्यान न रहकर वास्तविकता का रूप धारण करने लगती है। क्सेनोफोन में इसका एक उदाहरण मिलता है। वह कहता है, "एक आदमी क्युरस[६४] के घोड़े के नीचे गिर जाता है, और जिस समय घोड़ा उसको कुचलना चाहता है, उस समय वह अपनी तलवार उसके पेट में भोंक देता है। घोड़ा पिछले पैरों पर खड़ा हो जाता है और क्युरस को अपनी पीठ से गिरा देता है।" इस तरह की रचना थुक्युदिदेस की एक अपनी विशेषता है।

(२६)

इसी तरह पुरुष का परिवर्तन भी अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करता है और प्राय: श्रोता को यह अनुभव होने लगता है जैसे वह पुरुष विपत्तियों के बीच चल रहा हो।

> तूने कहा था कि उपचित शक्ति और स्वस्थ शरीर लेकर
> वे सब युद्ध में भिड़ गये, ऐसे प्रचंड वेग से वे संघर्ष के लिए झपटे।

और फिर अरतुस की यह पंक्ति :

> उस महीने में तूफ़ानी सागर में अपना जहाज़ कभी मत छोड़ना।

यही बात हेरोदोतुस में भी पाई जाती है : "ऐलिफन्तीनि[६५] (ऐलिफ़ेन्टाइन) नगर से तू ऊपर की ओर यात्रा करेगा और तब एक समतल मैदान में पहुँचेगा; और इस मैदान को पार करने के बाद तू एक और जहाज़ में सवार होगा और उसमें दो दिन तक यात्रा करेगा, और तब तू एक बड़े शहर में पहुँचेगा जिसका नाम है मेरोए[६६]।" क्या तुम यह अनुभव नहीं करते कि किस प्रकार वह कल्पना में तुम्हें उस प्रदेश में से ले जाता है और ऐसा लगता है मानो कान से सुनी बात को तुम सचमुच ही आँखों से देख रहे हो। इस प्रकार प्रत्यक्ष व्यक्तिगत रूप में सम्बोधन के द्वारा श्रोता जैसे स्वयं घटनास्थल पर उपस्थित हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव तब भी होता

है जब यह लगे कि तुम हर एक से नहीं बल्कि किसी एक व्यक्ति से बात कर रहे हो :

पर त्युदेइदेस, तुम उसे न जानते होगे जिसके लिए वह वीर लड़ा था।

यदि तुम अपने श्रोता को व्यक्तिगत रूप में सम्बोधित कर उसे सजग रखो तो वह अधिक उत्तेजित और एकाग्रचित्त रहेगा और सक्रिय रूप से तुम्हारे साथ सहयोग करेगा।

(२७)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक किसी अन्य व्यक्ति के बारे में बात करते-करते एकाएक बात को काटकर स्वयं अपने आपको उस व्यक्ति का रूप दे देता है। इस प्रकार के अलंकार से आवेग का विस्फोट प्रकट होता है :

तब त्रिग्रवासियों (त्रायवासियों) से दूर तक गूँजती हुई ललकार के साथ हैक्तोर ने कहा :

रक्त-रंजित विजय के सामान को छोड़, तुरंत ही जहाजों पर दौड़ जाओ
और जिसे भी मैं जहाज से बाहर अकेला देखूँगा
उसके प्राणों की निश्चय ही खैर नहीं।

यहाँ, उचित ही, कवि वर्णन का भार अपने ऊपर ही लेता है पर बीच में अचानक ही बिना कोई चेतावनी दिए वह धमकी-भरे शब्द क्रुद्ध नायक के मुँह में रख देता है। इस स्थल पर यदि वह यह कहता कि 'हैक्तोर ने ऐसा-ऐसा कहा' तो कथन सर्वथा निर्जीव हो जाता। यहाँ पर वर्णन के इस अचानक परिवर्तन ने वर्णनकर्ता (वक्ता) के परिवर्तन को एकदम पीछे छोड़ दिया है। इसलिए इस अलंकार का उस प्रसंग में प्रयोग अच्छा रहता है जहाँ किसी स्थिति की तीव्रता के कारण लेखक के लिए विराम का अवसर नहीं रहता और वह वर्णन में पुरुष-परिवर्तन करने के लिए लाचार हो जाता है। इसका एक उदाहरण हेकातैउस[६७] में भी मिलता है : "कीइक्स[६८] ने उस

मामले को बड़ा महत्त्व दिया और तुरन्त ही हैराक्लेस के वंशजों को चले जाने की आज्ञा दी; क्योंकि मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। इसलिए यदि तुम स्वयं बर्बाद होना और मुझे कष्ट देना नहीं चाहते तो किसी दूसरे देश में चले जाओ।" देमोस्थेनेस ने अरिस्तोगेइतोन[६९] के वर्णन में भावनाओं का त्वरित घात-प्रतिघात दिखाने के लिए पुरुष के परिवर्तन का ईषत् भिन्न प्रकार से प्रयोग किया है। वह पूछता है, "और क्या तुममें से कोई भी इस नीच और निर्लज्ज आदमी के जघन्य कार्यों को देखकर घृणा अथवा क्रोध से क्षुब्ध नहीं होगा, वह आदमी जो—तू ओ अभागे आदमी, तू, जिसकी वाणी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, कोई ऐसी अर्गला नहीं है जो कभी खुल सके।" भाव को इस प्रकार अधूरा ही छोड़कर वह अचानक ही बात काट देता है और क्रोध में आकर एक ही पदावली को दो भिन्न 'पुरुषों' के प्रयोग के द्वारा चीर देता है। "वह जो—ओ तू अभागे आदमी।" इस भाँति यद्यपि उसने अपना सम्बोधन बदल दिया है और लगता है कि अरिस्तोगेइतोन को उसने छोड़ दिया है तो भी भावावेग की तीव्रता द्वारा वह अपने कथन को कहीं अधिक प्रबल रूप में अरिस्तोगेइतोन के प्रति व्यक्त करता है। यही बात पैनेलोपे[७०] के शब्दों के बारे में है :

हे दूत, अब कौन-सा संवाद परिणय-प्रेमियों के दल से लेकर तू आया है?
ओद्युस्सेउस की कुमारियों को उनका देव-तुल्य आदेश देने
कि अपने सभी कार्य छोड़ दें, और उनके लिए भोज का प्रबंध करें ?
मैं चाहती हूँ कि उनके समस्त प्रणय-निवेदन का यह अंतिम दिन हो,
तुम्हारी दावतों का आज अंत हो जाय, तुम्हारे विलासोत्सव का यह अंतिम क्षण हो,
तुम जो एकसाथ एकत्र होकर हमारे समस्त पदार्थों का भक्षण कर जाते हो
सुधी तेलेमाखस के भांडार का, मानो तुमने कभी सुना ही न हो,
अपने बचपन के दिनों में, बहुत पहले, अपने पिताओं का यह
प्रशस्ति-कथन कि ओद्युस्सेउस कितना भला था !

(२८)

इस विषय में कि पर्यायोक्ति से उदात्त की सिद्धि में सहायता मिलती है या नहीं, मेरे विचार से, किसी को कोई शंका न होगी। क्योंकि जिस प्रकार सहायक वाद्यों से किसी राग का सौन्दर्य निखर उठता है उसी प्रकार पर्यायोक्ति सामान्य उक्ति के साथ समंजित हो जाती है और उससे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है, विशेषकर यदि वह अत्युक्तिपूर्ण और अनमेल न हो वरन् प्रिय और संयत हो। प्लतोन (प्लेटो) में इसका एक सुन्दर उदाहरण मिलता है। अन्त्येष्टि के अवसर पर अपने एक भाषण के प्रारम्भ में उसने कहा है : "वास्तव में उन्होंने हमसे अपनी समुचित श्रद्धांजलि प्राप्त कर ली है और उसी का उपभोग करते हुए वे सार्वजनिक रूप में समस्त देश के साथ और व्यक्तिगत रूप में अपने-अपने सम्बन्धियों के साथ नियत मार्ग पर चल पड़े हैं।" यहाँ मृत्यु को वह 'अपना नियत मार्ग' और परम्परागत संस्कारों को 'सार्वजनिक रूप में समस्त देश के साथ' कहता है। इन शब्दों के प्रयोग द्वारा उसने धारणा के प्रभाव में क्या कोई साधारण-सी ही वृद्धि की है? क्या यह सच नहीं है कि सर्वथा अनलंकृत शब्दावली से प्रारम्भ कर उसने सम्पूर्ण उक्ति को संगीतमय बना दिया है और उसमें पर्यायोक्ति से उत्पन्न मधुर लय का, स्वर-संगति की भाँति, समावेश कर दिया है? और क्सेनोफोन कहता है, "आप श्रम को सुखी जीवन का मार्ग-दर्शक मानते हैं। आपने अपनी आत्माओं में सबसे उत्तम और योद्धाओं के लिए सबसे उपयुक्त गुण को प्रश्रय दिया है। क्योंकि आप अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा प्रशंसा से अधिक प्रसन्न होते हैं।" यहाँ 'आप परिश्रम करने के लिए तैयार हैं' इन शब्दों की अपेक्षा 'आप परिश्रम को सुखी जीवन का मार्गदर्शक मानते हैं' आदि शब्दों का प्रयोग कर और शेष वाक्य का भी इसी प्रकार विस्तार कर क्सेनोफोन ने अपनी प्रशस्ति को उदात्त रूप दे दिया है। यही हेरोदोतुस की अप्रतिम पदावली के

विषय में भी सही है : "जिन स्क्युथी लोगों (सिथियावासियों) ने मन्दिर का ध्वंस किया था, उन्हें देवी ने शाप देकर पुंसत्वहीन कर दिया।"

(२९)

किन्तु यदि विवेकपूर्वक उपयोग न किया जाय तो पर्यायोक्ति ख़तरनाक, सचमुच बहुत ही ख़तरनाक चीज़ है। बिना सोचे-समझे उपयोग करने से वह एकदम प्रभावशून्य हो जाती है—एक प्रकार का खोखलापन और व्यर्थ का वाग्विस्तार मात्र शेष रह जाता है। यही कारण है कि प्लतोन (प्लेटो) पर भी—जो सदा अलंकारमयी भाषा का प्रयोग करता है, वरन् कभी-कभी अनावश्यक रूप में भी करता है—यह आक्षेप किया जाता है क्योंकि अपनी '*विधि-संहिता'[७१] नामक पुस्तक में वह कहता है, "न सोने और न चांदी के कोष को नगर में प्रतिष्ठित होने देना चाहिए।" आलोचक कहता है कि यदि वह पशु रखने का निषेध कर रहा होता तो स्पष्ट ही मेषधन और गोधन का उल्लेख करता। पर भाई तेरेन्तिआनुस, उदात्त तत्त्व और अलंकार-प्रयोग के विषय में हमारा यह प्रासंगिक विवेचन काफ़ी लम्बा हो चुका है। क्योंकि ये सभी बातें शैली को आवेग एवं सजीवता प्रदान करती हैं और आवेग का औदात्त्य के साथ वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा चरित्र-चित्रण का मनोरंजन के साथ होता है।

(३०)

किन्तु सत्य यह है कि किसी विवेचन में विचार और पद-विन्यास अधिकतर एक-दूसरे के आश्रय से विकसित होते हैं; इसलिए अब हमें पद-विन्यास सम्बन्धी कुछ ऐसे विषयों पर विचार कर लेना चाहिए जो अभी तक उपेक्षित रहे हैं। निस्सन्देह जो लोग इस बात को भली

* लॉज

भाँति जानते हैं, उन्हें विस्तारपूर्वक यह समझाना अनावश्यक ही है कि उपयुक्त एवं प्रभावक शब्दावली श्रोता को आश्चर्यजनक रूप में आकर्षित और अभिभूत कर लेती है। ऐसी शब्दावली की सभी वक्ता और लेखक कामना करते हैं क्योंकि उसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किसी रचना में, सुन्दरतम मूर्तियों की भाँति, भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ओज और शक्ति तथा अन्य श्रेष्ठ गुणों का आविर्भाव होता है और मृतप्राय वस्तुएँ जीवन्त हो उठती हैं। जैसा मैंने कहा, इन सबका उल्लेख करना अनावश्यक ही है क्योंकि सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं। किन्तु इस बात का संकेत किया जा सकता है कि गरिमामयी भाषा का उपयोग सर्वत्र नहीं करना चाहिए क्योंकि छोटी-मोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे-से बालक के मुँह पर पूरे आकारवाला त्रासद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है। किन्तु काव्य में और……

(३१)

……ओजस्वी और प्रवाहपूर्ण; यही अनाक्रेओन[७२] की इस पंक्ति के बारे में सत्य है : "उस थ्रकिस की घोड़ी की परवाह अब मैं नहीं करता।" इस दृष्टि से ही थेओपोम्पस[७३] की मौलिक उक्ति सराहनीय है। शब्द और वस्तु के बीच पूर्ण सामंजस्य होने के कारण वह मुझे अत्यन्त अभिव्यंजनापूर्ण प्रतीत होती है किन्तु तो भी कैकिलिउस ने किसी अज्ञात कारण से उसे सदोष माना है। थेओ-पोम्पस कहता है : "फिलिप में बातों को पेट में पचा लेने की बड़ी शक्ति थी।" इस प्रकार का सीधा-सादा कथन कभी-कभी भव्य भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक होता है, क्योंकि साधारण जीवन से उपलब्ध होने के कारण वह तुरन्त समझ में आ जाता है और परि-चित होने के कारण अधिक ग्राह्य होता है। इसलिए 'पेट में पचा लेना' आदि शब्दों का प्रयोग ऐसे व्यक्ति के बारे में बहुत ही सफल

रहता है जो अपना मतलब गाँठने के लिए लज्जाजनक और गंदी बातों को भी धीरज के साथ हँसी-खुशी सहन कर लेता है। यही बात हेरोदोतुस के शब्दों के बारे में है जहाँ वह कहता है : "क्लिओमेनेस पागल हो गया, एक छोटी-सी तलवार से अपने ही शरीर की धज्जियाँ करने लगा और अन्त में उसने सारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर अपनी हत्या कर ली।" अथवा : "प्युथेस तब तक जंहाज़ पर बराबर लड़ता रहा जब तक उसके टुकड़े-टुकड़े नहीं कर दिए गए।" ग्रामीण स्पर्श होने पर भी ये वाक्य अपनी व्यंजकता के कारण ग्राम्य दोष से बच जाते हैं।

(३२)

इसके अतिरिक्त (रूपकों) लाक्षणिक प्रयोगों की संख्या के सम्बन्ध में कैकिलिउस इस मत का समर्थक जान पड़ता है कि दो या अधिक से अधिक तीन रूपकों से ज़्यादा एकसाथ नहीं प्रयुक्त होने चाहिए। वास्तव में अन्य प्रसंगों की भाँति इस विषय में भी देमोस्थेनेस आदर्श है। रूपकों के प्रयोग का उचित अवसर तब होता है जब आवेग उन्मद प्रवाह की भाँति उमड़ता चला आता है और अपने अबाध वेग में मानो अलंकारों की एक विपुल शृङ्खला को बहा लाता है। वह कहता है : "ऐसे लोग जो घृणित चाटुकार हैं, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी पितृभूमि को खण्डित किया है, जिन्होंने अपनी स्वाधीनता को पहले फिलिप के हाथ और अब सिकन्दर के हाथ बेच दिया है, जो अपने सुख को अपनी उदर-पूर्ति और अपनी निम्नतम इच्छाओं की तृप्ति से मापते हैं और जिन्होंने अपनी उस स्वाधीनता तथा निरंकुश शासन से अपनी उस मुक्ति को तिलांजलि दे दी है जो पिछले युग के यूनानियों के लिए शिवत्व का मानदण्ड और आदर्श थी···।" यहाँ देशद्रोहियों के प्रति वक्ता के आक्रोश ने रूपकों की संख्या पर परदा डाल दिया है। इसी भाव से अरस्तू[७४] और थेओफ्रास्तुस[७५] ने यह लिखा है कि 'मानो', 'जैसा', 'यदि यह कहा

जाय तो' और 'यदि यह कहना उचित समझा जाय तो', आदि वाक्यांशों से प्राय: अतिशयपूर्ण रूपकों को संयत करने में सहायता मिलती है; क्योंकि, उनका कहना है कि, इस प्रकार के विशेषक शब्दों से उक्ति का औद्धत्य कुछ कम हो जाता है। मैं इस विचार से सहमत हूँ किन्तु तो भी, जैसा कि मैं अन्य अलंकारों के प्रसंग में कह चुका हूँ, रूपकों की बहुलता अथवा अतिरंजना के लिए मैं यह मानता हूँ कि प्रबल और अवसर के उपयुक्त आवेग एवं भव्य औदात्त्य ही समुचित उपचार है। क्योंकि आवेग के स्वरूप में ही यह निहित है कि वह अपने उद्दाम प्रवाह में सामने की प्रत्येक वस्तु को बहाकर ले जाए या एकदम असाधारण प्रयोग उसके लिए प्राय: अनिवार्य हो जाए। वह श्रोता को इस वात का अवकाश नहीं देता कि रूपकों की संख्या की आलोचना कर सके क्योंकि वह स्वयं वक्ता के आवेश में बह जाता है। इसके अतिरिक्त साधारण वस्तुओं के चित्रण तथा वर्णन में जितना प्रभाव रूपक-शृङ्खला के प्रयोग का पड़ता है उतना किसी और युक्ति का नहीं पड़ सकता। इसी के द्वारा क्सेनोफोन की कृतियों में मानव-शरीर की रचना का इतना भव्य चित्रण किया गया है; और प्लतोन (प्लेटो) का चित्रण तो और भी दिव्य है। प्लतोन (प्लेटो) कहता है कि मनुष्य का सिर एक दुर्ग है; सिर और कबन्ध के बीच में, गर्दन डमरूमध्य की भाँति स्थित है। वह कहता है कि पृष्ठ-वंशियाँ नीचे धुरी की भाँति स्थापित की गई हैं। सुख-भोग का लोभ मनुष्य को बुराई की ओर आकृष्ट करता है और जिह्वा उस स्वाद की कसौटी है; हृदय नाड़ियों की ग्रंथि है और उस रक्त का स्रोत है जो चारों ओर वेग से चक्कर काटता रहता है; यह हृदय शरीर के रक्षागृह में स्थित है। जिन पथों में होकर रक्त इधर-उधर दौड़ता है उन्हें वह वीथियों का नाम देता है। वह कहता है कि देवताओं ने हृदय की धड़कन को कुछ सहायता देने के लिए (यह धड़कन तब उत्पन्न होती है जब किसी संकट की आशंका हो

और जब कोई आक्रोश उसे उत्तेजित कर दे क्योंकि तब वह अत्यंत उत्तप्त हो उठता है) फेफड़ों की स्थापना की है। ये फेफड़े सुकुमार और रक्तहीन होते हैं और उनमें भीतर छिद्र होते हैं जो एक प्रकार से आघात को सहारने का कार्य करते हैं, ताकि जिस समय आन्तरिक आक्रोश उबलने लगे तो हृदय किसी कोमल वस्तु से ही टकराये और क्षति से बच जाय। इच्छाओं के निवास-स्थान की तुलना वह अन्तःपुर से करता है और क्रोध की पुरुषों के आवास से। प्लीहा को वह भीतरी भागों का मार्जन-वस्त्र मानता है जहाँ से वह विभिन्न स्रावों से भरकर बड़ा भारी आकार धारण करती है। इसके बाद देवताओं ने इस ढाँचे के ऊपर मांसल त्वचा का चँदोवा ताना और उसे बाह्य आघातों से रक्षा करने का साधन बनाया जैसे वह कोई रोएँदार तकिया हो। रक्त को वह मांस का पोषक तत्त्व कहता है। "पोषण के लिए उन्होंने शरीर का सिंचन किया और उसमें ऐसी नालियाँ काटकर बनाईं जैसी किसी उद्यान में बनाते हैं जिससे शरीर की छोटी-छोटी नालियों में नाड़ियों की धाराएँ इस प्रकार प्रवाहित हो सकें मानो किसी अक्षय स्रोत से निकली हों।" अन्त में वह कहता है कि आत्मा के बंधन जहाज़ के बंधनों की भाँति ढीले रखे गये हैं और उसे स्वच्छन्द विचरण करने की अनुमति है। इस तरह के उदाहरण असंख्य मिल सकते हैं पर उपर्युक्त उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि अलंकारमयी भाषा में बड़ी स्वाभाविक शक्ति होती है और रूपक उदात्त तत्त्व की प्रतिष्ठा में सहायक होते हैं—साथ ही आवेगदीप्त एवं वर्णनात्मक प्रसंगों में उनकी सार्थकता सबसे अधिक होती है। किन्तु यह स्पष्ट है, यद्यपि मैं इस बात की यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं करना चाहता, कि उक्ति के अन्य अलंकारों की भाँति रूपकों के (लाक्षणिक) प्रयोग में भी अतिचार की सम्भावना है। इसके लिए तो स्वयं प्लतोन (प्लेटो) की बड़ी आलोचना होती है क्योंकि वह प्रायः शब्दों के मद में चूर होकर बड़े

कर्कश और तीखे लाक्षणिक प्रयोगों तथा अतिरंजनापूर्ण रूपकों की भरमार करने लगता है। उसने लिखा है: "क्योंकि इस बात पर आसानी से ध्यान नहीं जाता कि एक नगर को प्याले की तरह होना चाहिए जिसमें उन्मत्त मदिरा डालते ही उफान उठती है; पर यदि कोई दूसरा संयमी देवता अपनी सत्संगति से उसका संस्कार कर दे तो वह एक उत्तम और निर्मद पेय बन जाती है।" आलोचकों का कहना है कि जल के लिए 'संयमी देवता' और मिलाने के लिए 'संस्कार करना' आदि कवि की भाषा है, और वह भी ऐसे कवि की जिसकी कल्पना में संयम का अभाव है। किन्तु ऐसे ही दोषों को पकड़कर कैकिलिउस ने अपनी रचनाओं में ल्युसिअस[७६] की प्रशंसा की है और यहाँ तक कह दिया है कि ल्युसिअस प्लतोन (प्लेटो) से अत्यन्त श्रेष्ठ लेखक था। ऐसा करके वह भावावेश की दो अन्ध प्रवृत्तियों का शिकार हुआ है। ल्युसिअस के प्रति उसे अपने आपसे भी अधिक प्रेम है, किन्तु जितना ल्युसिअस से प्रेम है, उससे कहीं अधिक प्लतोन (प्लेटो) से घृणा है। वास्तव में वह विवाद की उत्तेजना में बह जाता है और उसकी प्रतिज्ञाएँ भी, यद्यपि उसका अपना यही विचार था, स्वीकार्य नहीं हैं। क्योंकि वह प्लतोन (प्लेटो) को प्रायः भूल करने वाला मानकर वक्ता ल्युसिअस को सर्वथा निर्दोष मान लेता है। किन्तु सत्य यह नहीं है, बल्कि उसके आसपास भी नहीं है।

(३३)

आओ, अब हम किसी एक ऐसे लेखक को लें जो वास्तव में दोषरहित और आलोचना से परे हो। इस स्थल पर क्या यह सामान्य प्रश्न उठाना उपयुक्त नहीं है कि हमें कविताओं और गद्य-रचनाओं में किस बात को अधिक महत्त्व देना चाहिए: गरिमा को जिसके साथ कुछ न कुछ दोष भी लगे हों अथवा ऐसी सफलता को जो साधारण हो पर साथ ही हर तरफ़ से ठीक-ठाक और सर्वथा

दोष-मुक्त हो ? इतना ही नहीं, यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि साहित्य में किसका महत्व अधिक मानना चाहिए : बहुसंख्यक गुणों का अथवा उच्च कोटि के गुणों का ? ये प्रश्न औदात्त्य के विवेचन में सर्वथा उपयुक्त हैं और उनका समाधान होना अत्यन्त ही आवश्यक है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं यह बात अच्छी तरह जानता हूँ कि महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है; क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्त्य में, जैसा कि विपुल सौभाग्य में भी होता है, कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि निम्न और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति नियमतः विनिपात से मुक्त होते हैं और अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहते हैं क्योंकि वे कभी भी शिखर पर चढ़ने का साहस नहीं करते। दूसरी ओर महान् प्रतिभावान् व्यक्तियों के लिए उनकी महानता के कारण ही सदा बड़ा ख़तरा बना रहता है। दूसरे, मैं यह भी जानता हूँ कि मानव-चरित्र के दुर्बल पक्ष पर आसानी से ध्यान जाता है और दोषों की स्मृति मिटाये नहीं मिटती, पर गुणों को हम बहुत शीघ्र ही भूल जाते हैं। मैंने स्वयं भी होमेरस (होमर) तथा अन्य श्रेष्ठ लेखकों में अनेक त्रुटियाँ ढूँढ़ निकाली हैं और उनकी भूलों को देखकर मुझे कष्ट ही हुआ है। तो भी मैं यह नहीं मानता कि वे भूलें जान-बूझकर की गई हैं, वे तो ऐसी आकस्मिक भूलें हैं जो एक प्रतिभावान् व्यक्ति की सहज असावधानी और उपेक्षा-वृत्ति के कारण रह गई हैं। इसीलिए मैं अपने इस मत पर दृढ़ हूँ कि उच्चकोटि के गुणों को, चाहे समस्त रचना में उनके उच्च स्तर का निर्वाह न भी हो तब भी, तुलनात्मक दृष्टि से प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए : और किसी कारण से नहीं तो केवल आंतरिक ऊर्जा के कारण ही उन्हें यह स्थान दिया जाना चाहिए। यह मैं मानता हूँ कि अपोलोनिउस[११] अपनी 'अरगोनाउतिका' नामक रचना में ऐसे कवि के रूप में हमारे सामने आता है जो कभी त्रुटि

नहीं करता, और इसी प्रकार थेओक्रितुस[७८] का गोचारण-काव्य कुछेक बाह्य वस्तुओं को छोड़कर सर्वत्र ही अत्यन्त सरस है। किन्तु यह सब होते हुए भी क्या तुम अपोलोनिउस की अपेक्षा होमेरस (होमर) होना अधिक पसन्द नहीं करोगे ? इसी प्रकार एरातोस्थेनेस[७९] की उस छोटी-सी कविता 'एरीगोने' को ले लो जो सर्वथा दोषरहित है। किन्तु क्या इसी कारण एरातोस्थेनेस को आरखीलोखुस से बड़ा कवि माना जाएगा जिसकी रचनाओं में काव्य-सामग्री का प्रभूत किन्तु अव्यवस्थित भण्डार भरा पड़ा है और दिव्य प्रतिभा का ऐसा अपूर्व विस्फोट है जिसे नियमों में बाँधकर रखना कठिन है ? एक और उदाहरण लो। क्या प्रगीत काव्य में तुम पिंदार[८०] की अपेक्षा बख्युलिदेस[८१] को अधिक श्रेष्ठ मानोगे और त्रासदी के क्षेत्र में सोफोक्लेस की अपेक्षा खिओस का इओन[८२] होना पसन्द करोगे ? यह सही है कि बख्युलिदेस और इओन उस वर्ग के लेखक हैं जिन्होंने अपने काव्य के रूप को खूब सँवारा और निखारा है—उनकी रचना सर्वथा निर्दोष और लालित्यपूर्ण है। दूसरी ओर पिंदार और सोफोक्लेस कभी-कभी तो अपनी प्रतिभा की तीव्र ज्वाला में प्रत्येक वस्तु को भस्म कर देते हैं किन्तु प्रायः अकारण ही बुझ जाते हैं और बहुत बुरी तरह असफल सिद्ध होते हैं। पर तो भी क्या कोई समझदार व्यक्ति इओन की सारी की सारी रचनाओं को मिलाकर अकेले 'ओइदिपुस' (ईडिपस) नाटक के भी बराबर मान सकता है ?

(३४)

यदि सफल रचना की परख सच्ची कसौटी पर न होकर गुणों की संख्या से होने लगे तो इस दृष्टि से ह्यु पेरिदेस को देमोस्थेनेस से सर्वथा श्रेष्ठ मानना पड़ेगा। क्योंकि देमोस्थेनेस की अपेक्षा उसमें स्वर-वैचित्र्य और गुणों की संख्या कहीं अधिक है : वह एक ऐसे खिलाड़ी की भाँति है जो हर क्षेत्र में मीर बनते-बनते रह जाता है। हर प्रतियोगिता में उसे पहला स्थान अपने प्रतिद्वन्द्वी के लिए

छोड़ देना पड़ता है जब कि सभी साधारण लेखकों की तुलना में पहला स्थान उसी का रहता है। अब ह्यु पेरिदेस रचना-कौशल को छोड़ अन्य समस्त विषयों में न केवल देमोस्थेनेस का ही अनुकरण करता है वरन् ल्युसिअस के भी अनेक गुणों और विशेषताओं का उसने अपूर्व मात्रा में अर्जन कर लिया है। क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वह सहज रूप में बात करता है और देमोस्थेनेस की भाँति सभी उक्तियों में उसका स्वर एक-सा अपरिवर्तित नहीं रहता। साथ ही मधुर-मनहर रूप में ईषत् उत्तेजना का स्पर्श देते हुए चरित्र-चित्रण करने की शक्ति भी उसे प्राप्त है। वाग्वैदग्ध्य के भी असंख्य प्रमाण उसकी रचनाओं में मिलते हैं—अत्यन्त परिष्कृत अपहास, अभिजात सहजता, वक्रतापूर्ण उक्तियों की प्रतियोगिता में नम्य निपुणता, परिहास जो कुख्यात अथेनी शैली के से रुचिहीन और अभद्र न होकर प्रसङ्ग से सहज उद्भूत हैं, चतुर उपहास, प्रभूत हास्य-शक्ति, सुनिर्दिष्ट तीखा व्यंग्य और समस्त रचना को एक प्रकार का अननुकरणीय सौंदर्य प्रदान करने की क्षमता इत्यादि। वह स्वभाव से ही दया भाव उत्पन्न करने में बहुत दक्ष है; किसी कथा का वर्णन वह बहुत सहज रूप से कर सकता है और अपने लचीले स्वभाव के कारण बीच-बीच में अवान्तर विषयों की चर्चा वह बहुत ही सरलता से कर लेता है (जैसा कि, उदाहरण के लिए, लेतो की कहानी के काव्यात्मक वर्णन से प्रकट होता है)। इसके अतिरिक्त अंत्येष्टि-भाषण को तो उसने प्रदर्शनात्मक शैली में कदाचित् अद्वितीय सफलता के साथ प्रस्तुत किया है।

दूसरी ओर देमोस्थेनेस चरित्र-चित्रण में निपुण नहीं है, उसमें सहज गुण नहीं है। नम्यता अथवा प्रदर्शनात्मकता तो उसमें नहीं के बराबर है; जिन गुणों की चर्चा ऊपर की गई है, उसमें वे सभी अपेक्षाकृत कम हैं। जहाँ वह प्रयत्नपूर्वक परिहासमय अथवा मनोरंजक बनने का प्रयत्न करता है, वहाँ हास्य उत्पन्न करने की जगह स्वयं ही

हास्यास्पद बन जाता है। और जब वह सौंदर्य के समीप पहुँचने का यत्न करता है, तो उससे और भी दूर चला जाता है। यदि वह फ्युने अथवा अथेनोगेनेस के विषय में संक्षिप्त भाषण लिखने का प्रयत्न करता तो उसकी तुलना में ह्युपेरिदेस और भी अधिक श्रेष्ठ जान पड़ता। किन्तु ह्युपेरिदेस में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों उसमें औदात्त्य का अभाव है : उसकी रचनाएँ किसी संयत व्यक्ति की धीर-संयत उक्तियाँ हैं जो श्रोताओं को प्रभावित नहीं करतीं; ह्युपेरिदेस को पढ़कर किसी को त्रास का अनुभव नहीं होता। किन्तु देमोस्थेनेस मानो किसी भण्डार से निकालकर ऐसे गुणों की झड़ी लगा देता है जो भव्यतम उदात्त भाव से सम्बद्ध हैं और जो सर्वोत्कृष्ट कोटि के हैं, जैसे ओजस्वी वाग्मिता, जीवन्त आवेग, प्रचुरता, तत्परता, जहाँ उपयुक्त हो वहाँ गति तथा ऐसी शक्ति और वेग जिनकी समता करना सम्भव नहीं। मेरा विचार है कि इन प्रबल गुणों को, जिन्हें हम ईश्वर-प्रदत्त मान सकते हैं (क्योंकि उन्हें मानवीय कहना उचित नहीं होगा), अपने भीतर आत्मसात् कर इस प्रकार वह सभी परवर्ती लेखकों को ऐसी विशेषताओं के क्षेत्र में भी पछाड़ देता है जो स्वयं उसमें नहीं हैं, और प्रत्येक युग के वक्ताओं को अपनी गर्जना और विद्युद्वेग के द्वारा परास्त कर देता है। वज्रपात का बिना पलक झपाये सामना करना तो आसान है, किन्तु एक के बाद एक तीव्र गति से होने वाले उसके भाव-विस्फोट को अविचल दृष्टि से देखना सम्भव नहीं।

(३५)

किन्तु जैसा मैंने पहले कहा, प्लतोन (प्लेटो) और ल्युसिअस में एक और भी अन्तर है। क्योंकि गुणों की उत्कृष्टता में ही नहीं, वरन् उनकी संख्या में भी ल्युसिअस प्लतोन (प्लेटो) की अपेक्षा अत्यन्त हीनतर है। साथ ही जहाँ वह गुणों में प्लतोन (प्लेटो) से बहुत पिछड़ा हुआ है, वहीं दोषों के मामले में वह उससे कहीं अधिक

बढ़-चढ़कर है। तो फिर उन महामानव लेखकों के सामने ऐसा कौनसा तथ्य था कि उन्होंने रचना के श्रेष्ठ गुणों पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ सर्वव्यापी परिशुद्धता का तिरस्कार किया ? इस विषय में और बहुतसी बातों के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि प्रकृति ने हम मनुष्यों को नीच और जघन्य पशु होने के लिए नहीं बनाया है, बल्कि जब वह हमें जीवन के क्षेत्र में और इस विराट् विश्व में प्रविष्ट करती है, मानो किसी बड़ी सभा में प्रविष्ट कर रही हो—इस उद्देश्य से कि हम इस विराट् पूर्णता का दर्शन करें और गौरव के उत्कट अभिलाषी बनें—उसी समय जो कुछ भी हमसे अधिक उदात्त और दिव्य है, उसके प्रति एक अदम्य आकर्षण वह हमारी आत्मा के भीतर अंकुरित कर देती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व भी मानव-मस्तिष्क के विचार और चिन्तन के लिए पर्याप्त नहीं लगता और प्रायः हमारी कल्पना दिगन्त को पार कर जाती है; यदि हम अपने चारों ओर के जीवन पर दृष्टि डालकर यह देख सकें कि उसमें अद्भुत, महान् और सुन्दर पदार्थों की कितनी प्रचुरता है तो हमें अपने जन्म का प्रयोजन समझने में देर नहीं लगेगी। यही कारण है कि स्वभाव से ही हम छोटी-छोटी धाराओं की प्रशंसा नहीं करते, चाहे वे कितनी ही उपयोगी और निर्मल क्यों न हों, बल्कि नील नदी, डेन्यूब अथवा राइन और इन सबसे अधिक महासागर से प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार हम अपने द्वारा प्रज्ज्वलित छोटी-सी अग्नि-शिखा को (यद्यपि उसके प्रकाश की पवित्रता चिरकाल से यथावत् सुरक्षित है) स्वर्गिक ज्वालाओं की अपेक्षा अधिक संभ्रम से नहीं देखते, यद्यपि वे प्रायः अन्धकार में छिपी रहती हैं; न हम उसे ऐतना के ज्वालामुखियों की अपेक्षा अधिक विस्मयकारी मानते हैं जो अपने विस्फोट में अतल गर्त से बड़े-बड़े पत्थर एवं बृहदाकार शिलाखण्ड बाहर फेंकते रहते हैं और कभी-कभी जिनके गर्भ से विशुद्ध और अमिश्रित आंतर्भौम ज्वाला का नद-प्रवाह उमड़ता चला आता

है। इन सब विषयों में हम यह कह सकते हैं कि जो कुछ भी उपयोगी तथा आवश्यक है उसे मनुष्य साधारण मानता है; अपने सम्भ्रम का भाव तो वह उन पदार्थों के लिए ही सुरक्षित रखता है जो विस्मय-विमूढ़ कर देने वाले हैं।

(३६)

अब जहाँ तक साहित्य में उदात्त की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, जिसमें—जैसा कि कभी-कभी प्रकृति में होता है—गरिमा का उपयोगिता तथा हित से पृथक् अस्तित्व सम्भव नहीं है, यह बात तुरन्त ही ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि इस कोटि के लेखक निर्दोषता से बहुत दूर होते हैं तो भी वे सब नश्वरता से ऊपर उठ जाते हैं; और सभी गुण जहाँ यह सिद्ध करते हैं कि उनके धारण करनेवाले मनुष्य हैं, वहाँ औदात्त्य लेखक को ईश्वर के ऐश्वर्य के समीप ले आता है; जहाँ दोष-मुक्त होने पर आलोचनाओं से छुटकारा मिलता है, वहाँ गरिमा आदर और विस्मय को जन्म देती है। इसके आगे और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं कि इन महान् लेखकों में से प्रत्येक उदात्त के केवल एक ही सुखद स्पर्श से अपने समस्त दोषों का परिमार्जन कर देता है; सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि होमेरस (होमर) देमोस्थेनेस, प्लतोन (प्लेटो) तथा अन्य महत्तम लेखकों के सारे दोषों को चुनकर एकत्र कर लिया जाय तो भी वे सब मिलाकर इन महापुरुषों द्वारा हर क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों की तुलना में अत्यंत अल्प वरन् सर्वथा नगण्य सिद्ध होंगे। यही कारण है कि युग-युग की परवर्ती पीढ़ियों ने—जिनके निर्णय के विरुद्ध स्वयं ईर्ष्या भी विकृति का आरोप नहीं लगा सकती—विजयोपहार लाकर उन्हें ही अर्पित किये हैं, जिनकी रक्षा वे आज तक करती रही हैं और, जान पड़ता है, तब तक करती रहेंगी जब तक—

इस भूमि की नदियाँ बहती रहेंगी और उसके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष
बढ़ते और फलते-फूलते रहेंगे।

किन्तु जो लेखक यह मानता है कि दोषपूर्ण कोलोस्सस[८३] पोल्युक्लेइतुस[८४] द्वारा निर्मित कुन्तधर (की मूर्ति) से श्रेष्ठ नहीं है, उसके उत्तर में अन्य बहुतसी दूसरी बातों के अतिरिक्त इतना कहना आवश्यक है कि कला में अधिक से अधिक परिशुद्धता (निर्दोषता) की प्रशंसा होती है और प्रकृति की रचनाओं में गरिमा की, और मनुष्य को वाक्‌शक्ति का वरदान प्रकृति से प्राप्त होता है। मूर्तियों में मानव की अनुरूपता ही आवश्यक होती है, पर भाषण में, जैसा कि मैंने कहा, हम ऐसे गुण की अपेक्षा करते हैं जो मानवोपरि हो। तो भी, और यहाँ मैं फिर वही बात कहना चाहता हूँ जो मैंने इस विवेचन के प्रारम्भ में कही थी क्योंकि निर्दोषता की सिद्धि अधिकतर कला के फलस्वरूप प्राप्त होती है और उत्कर्ष (सदा समरूप न रहने पर भी) उदात्त भावना का परिणाम होता है, कला का उपयोग हर प्रकार से प्रकृति का सहायक होता है; क्योंकि इन दोनों के योग से ही सम्पूर्णता की उपलब्धि निश्चित हो सकती है।

इन समस्त प्रश्नों के विषय में हम इन्हीं निर्णयों पर पहुँचने के लिए बाध्य हैं, किन्तु हर आदमी अपने मन के अनुकूल मत रखने का अधिकारी है।

(३७)

रूपकों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध (इस विषय की ओर हमारा फिर लौटना आवश्यक है) तुलनाएँ और उपमाएँ हैं—अन्तर केवल इतना ही है·········

(३८)

···ऐसी अतिशयोक्तियाँ (ऊहात्मक उक्तियाँ) जैसे : "जब तक तुम अपने मस्तिष्क को अपनी एड़ियों से कुचलकर न चलो।" इसलिए यह जानना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रसंग में सीमा कहाँ निर्धारित की जाय। क्योंकि कभी-कभी निर्दिष्ट सीमा के परे चले

जाने से अतिशयोक्ति अलंकार नष्ट हो जाता है और ऐसी उक्तियों को यदि बहुत खींचा जाय तो उनका तनाव कम हो जाता है और कभी-कभी तो सर्वथा विपरीत प्रभाव ही पड़ने लगता है। उदाहरण के लिए इसोक्रतेस प्रत्येक वस्तु को बड़े विस्तार के साथ वर्णन करने की महत्त्वाकांक्षा के कारण ही विचित्र बालेयता का शिकार बन गया। उसकी 'विरुदावली' की विषयवस्तु यह है कि यूनान की समृद्धि में लकेदाइमोन की अपेक्षा अथेना (एथेंस) का योगदान अधिक है। किन्तु फिर भी अपने भाषण के शुरू में वह इन शब्दों का प्रयोग करता है : "इसके अतिरिक्त भाषा में ऐसी शक्ति है कि उसके द्वारा उदात्त वस्तुओं को नीचा गिराने और क्षुद्र वस्तुओं को गौरव प्रदान करना सम्भव है, इसी प्रकार भाषा के द्वारा पुरानी बातों को नए ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है और हाल की घटनाओं का प्राचीन पद्धति से वर्णन किया जा सकता है।" यहाँ यह पूछा जा सकता है : "तो इसोक्रतेस, क्या आप इसी प्रकार से लकेदाइमोन और अथेना (एथेंस) के इतिहास की घटनाओं की अदल-बदल करना चाहते हैं ? क्योंकि भाषा की शक्ति के गुणगान में उसने एक प्रकार से अपने श्रोताओं को पहले से ही इस बात की चेतावनी दे दी है कि वे उसके शब्दों पर भी विश्वास न करें। इसलिए शायद, जैसा कि हम साधारणतः अलंकारों के प्रसंग में कह चुके हैं, ऐसी अतिशयोक्तियाँ ही सर्वोत्तम होती हैं जिनके अतिशयोक्ति होने पर हमारा ध्यान ही न जाय। ऐसा तभी होता है जब उनका प्रयोग प्रबल भाव के दबाव के कारण किसी महान् संकट के प्रसंग में किया जाय, जैसा कि थुक्युदिदेस सिसली में मर-मिटनेवाले लोगों के सम्बन्ध में करता है। वह कहता है : "स्युरा-कुसवासी वहाँ से उतरकर पानी के किनारे आ पहुँचे और विशेषकर उन लोगों का वध करने लगे जो नदी के भीतर थे। इससे नदी का जल तुरन्त ही दूषित हो गया। किन्तु, कीचड़ और

रक्त मिल जाने पर भी लोग उसे निगलते रहे और अधिकांश के लिए तो वह तब भी इस योग्य था कि उसके लिए संघर्ष करते रहें।" रक्त और कीचड़ मिला हुआ एक चुल्लू जल ऐसी वस्तु थी जिसके लिए लोग संघर्ष करना उचित समझें, इस बात को उस चरम संकट-क्षण के भाव की तीव्रता द्वारा ही विश्वसनीय बनाया जा सका है। यही बात उस उद्धरण के विषय में है जिसमें हेरोदोतस थर्मोप्युलै में खेत रहनेवाले वीरों का वर्णन करता है। वह कहता है : "इस स्थान पर बर्बरों ने उन लोगों को दफ़ना दिया जो अपनी कृपाणों के द्वारा—जिनके पास कृपाणें बची थीं—और अपने हाथ और मुँह (दाँतों) के द्वारा रक्षा कर रहे थे।" यहाँ आपके मन में सशस्त्र व्यक्तियों के विरुद्ध 'मुँह (दाँतों) से संघर्ष करना' और तीरों के द्वारा 'दफ़नाया जाना' जैसी उक्तियों का प्रतिवाद करने की इच्छा हो सकती है किन्तु यह वर्णन विश्वसनीय लगता है : क्योंकि यहाँ घटना की उद्भावना अतिशयोक्ति अलंकार के लिए की गई नहीं जान पड़ती, वरन् अतिशयोक्ति ही घटना से सहज रूप में उद्भूत होती हुई जान पड़ती है। क्योंकि जैसा मैं सदा ही कहता आया हूँ, भावातिरेक के स्तर तक पहुँचनेवाले कार्य और आवेग प्रत्येक उद्धत उक्ति को सहज-मृदुल बनाने के लिए पर्याप्त हैं। यही कारण है कि किसी प्रहसन के शब्द-कौतुक, चाहे वे निरर्थकता की सीमा तक ही क्यों न पहुँच जाएँ, सदा उपयुक्त प्रतीत होते हैं क्योंकि वे प्रेक्षक का मनोविनोद करते हैं। उदाहरण के लिए—

उसका खेत किसी स्पार्तावासी की एक चिट्ठी से भी छोटा था।

क्योंकि हास्य भी एक भाव है जिसका आधार आनन्द है। अतिशयोक्ति का उपयोग छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की वस्तुओं के वर्णन में होता है क्योंकि दोनों में ही अतिशय का तत्त्व सामान्य रूप से विद्यमान रहता है। और, एक अर्थ में उपहास वस्तुओं की क्षुद्रता के विस्तार का ही नाम है।

(३६)

औदात्त्य की सिद्धि में सहायक जिन तत्त्वों का वर्णन हमने आरम्भ में किया था, उनमें से पाँचवें का विवेचन करना अभी शेष है। यह तत्त्व है—किसी निश्चित क्रम से शब्दों की योजना करना। इस विषय में हम दो निबन्धों में काफ़ी विस्तार से सभी सम्बन्धित बातों की चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हम अपने प्रस्तुत विवेच्य विषय को ध्यान में रखते हुए केवल उसी बात का उल्लेख करेंगे जो एकदम आवश्यक है, अर्थात् इस बात का कि समंजित शब्द-योजना न केवल प्रत्यय और आनन्द की ही उद्बुद्धि करती है वरन् उदात्त उक्ति और भावावेग का भी अद्भुत साधन है। उदाहरण के लिए बाँसुरी की तान श्रोताओं के हृदय में भावों का संचार कर ,एक प्रकार से उन्हें विभोर एवं भावाविष्ट कर देती है; श्रोता चाहे संगीत से पूर्णतः अनभिज्ञ हो तो भी उसे एक प्रकार की लयपूर्ण गति प्रदान कर लय और राग के अनुसार झूमने के लिए बाध्य करती है। और इसी प्रकार जैसा कि तुम जानते ही हो सारंगी (हार्प) के स्वर, यद्यपि अपने आपमें उनका चाहे कोई अर्थ न हो, ध्वनियों की विविधता, कंपन और समवेत संगीत के अंतर्गत परस्पर समन्वय द्वारा, प्रायः श्रोताओं के ऊपर एक जादू-सा कर देते हैं, किन्तु ये सब मनुष्यों को प्रभावित करने के बाह्य उपकरण अथवा कृत्रिम विधि मात्र हैं, और जैसा मैं कह चुका हूँ, मानव-स्वभाव की सहज क्रियाएँ नहीं। किन्तु रचना भाषा के उस सामंजस्य का ही नाम है जिसका प्रकृति ने मनुष्य के स्वभाव में ही आरोपण किया है और जो न केवल उसकी श्रवणेन्द्रिय को बल्कि उसकी आत्मा तक को प्रभावित करती है। यह रचना शब्दों, विचारों, कार्यों, सुन्दरता तथा राग के अनेक रूपों की अभिव्यक्ति करती है जो सब हमारे जन्म के साथ जन्म लेते हैं और विकास के साथ विकसित होते हैं। साथ ही वह अपने स्वरों के मिश्रण और परिवर्तन के द्वारा उपस्थित

लोगों के मन में उसी भाव का संचार करने का प्रयत्न करती है जो वक्ता के मन में हैं—सदा ही श्रोता-वर्ग को उस भावानुभूति में समभागी बनाती है और पदावली के परस्पर सह-विन्यास के द्वारा समंजित विधान प्रस्तुत करती है। ऐसी अवस्था में क्या यह मानना उचित नहीं होगा कि सामंजस्य इन्हीं सब साधनों के द्वारा हमें प्रलुब्ध करता है और अनिवार्य रूप से हमें भव्यता, गरिमा, ऊर्जा तथा अपने भीतर निहित प्रत्येक भाव की ओर प्रवृत्त करता है और इस प्रकार हमारे मन के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। किन्तु ऐसे विषयों पर विवाद करना जिन्हें साधारणतः स्वीकार किया जाता है, मूर्खता है; क्योंकि अनुभव अपने आप में पर्याप्त प्रमाण है। एक ऐसी धारणा का उदाहरण, जो सामान्यतः उदात्त मानी जाती है और वास्तव में स्तुत्य है ही, हमें देमोस्थेनेस की इस आज्ञप्ति में मिलता है : "इस आज्ञप्ति से नगर पर छाया हुआ संकट बादल की तरह छँट गया।" इस पंक्ति का सौन्दर्य जितना विचार के कारण है उतना ही स्वर-सामंजस्य के कारण भी क्योंकि विचार को लगातार गुरु-लघु-लघु (ऽ।।) क्रम से युक्त त्रिमात्रिक पदों से सम्पन्न लय में प्रकट किया गया है जो अत्यंत भव्य और उदात्त की सृष्टि के लिए बहुत ही अनुकूल है; यही कारण है कि वीर छंद का निर्माण इसी के आधार पर हुआ है—जो हमारा सर्वश्रेष्ठ छंद है। (इस पंक्ति में शब्दों की क्रम-योजना सर्वथा उपयुक्त है) क्योंकि यदि इस वाक्य के शब्दों का विन्यास अन्य किसी भी प्रकार से किया जाए—उदाहरणार्थ, यदि यह कहें कि "इस आज्ञप्ति से बादल की भाँति सामयिक संकट छँट गया।"—इतना ही नहीं, यदि आप केवल एक शब्द ही निकाल दें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सामंजस्य की औदात्त्य के साथ कितनी अभिन्नता है। यह पंक्ति अपने मूल रूप में चार मात्राओं वाली दीर्घ लय से आरम्भ होती है और एक भी मात्रा को निकालकर पंक्ति का संक्षेपण करते ही उसका

औदात्त्य विक्षत हो जाता है। इसी प्रकार इसके विपरीत यदि इसमें मात्राएँ बढ़ा दी जाएँ तो भी, अर्थ में अन्तर न होने पर भी, कानों पर वैसा प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि मात्रा-विस्तार से पंक्ति की आकस्मिक गरिमा की शक्ति और तनाव नष्ट हो जाता है।

(४०)

किसी उक्ति के औदात्त्य का एक प्रमुख कारण, मानव-शरीर की रचना की भाँति ही, उसके विभिन्न अंगों के निवेषण में है, जिनमें अलग-अलग रहने पर कोई विशेषता नहीं होती किन्तु सब मिलकर एक समग्र और सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं। इसी प्रकार गरिमा के तत्त्वों को यदि एक-दूसरे से अलग कर दिया जाय तो उनके साथ औदात्त्य भी इधर-उधर बिखर जाता है किन्तु जब उन सबको मिलाकर एकान्वित कर दिया जाता है और फिर सामंजस्य की एक श्रृंखला में बाँध दिया जाता है तो वे अपनी वर्तुलता के कारण ही कर्ण-मधुर हो जाते हैं; और बहुतसे अनुच्छेदों में औदात्त्य एक प्रकार से बहुलता की ही देन होता है। किन्तु हम यह बहुत कुछ स्पष्ट कर चुके हैं कि ऐसे बहुतसे लेखक और कवि भी, जिनमें स्वाभाविक औदात्त्य का गुण नहीं है और जिनमें शायद ऊर्जा की भी कमी है, गौरव एवं विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं और क्षुद्रता से मुक्त जान पड़ते हैं, यद्यपि अधिकतर वे ऐसे साधारण तथा लोकप्रिय शब्दों का ही प्रयोग करते हैं जिनके साथ उनका अपना किसी प्रकार का प्रबल मानसिक संसर्ग नहीं होता और जिन को वे केवल एक-साथ जोड़ने और गूँथने भर का कार्य करते हैं। इस बात के उदाहरण अन्य बहुतसे लोगों के अतिरिक्त फिलिस्तुस[८५] की रचनाओं में, अरिस्तोफनेस के कुछ अवतरणों में और एउरिपिदेस (यूरिपिडीस) की अधिकांश रचनाओं में मिल जायेंगे। एउरिपिदेस की एक रचना में हेराक्लेस उस दृश्य के बाद, जिसमें कि वह

अपने बच्चों का वध करता है, निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग करता है :

'मेरा जीवन दुःखों से भर चुका है, अब और के लिए अवकाश नहीं।

यह उक्ति बहुत ही साधारण है किन्तु पंक्ति-रचना की उपयुक्तता के कारण यह उदात्त बन गई है। यदि आप इस वाक्य की रचना किसी भिन्न प्रकार से करें तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाएगी, क्योंकि एउरिपिदेस अपनी आविष्कार-शक्ति के कारण नहीं बल्कि अपनी रचना-शक्ति के कारण श्रेष्ठ कवि है। एक अन्य स्थल पर एक नान्दी द्वारा दिरके के चीर दिए जाने का वर्णन है :

जिधर भी वह घूमता था
तेज़ी से चक्कर काटता हुआ,
उधर ही वह घसीटता और उठाकर फेंकता जाता था,
स्त्री को, पत्थरों को, सिन्दूर वृक्षों को,
निरन्तर एक के बाद दूसरे को।

यह कल्पना अपने आपमें उत्तम है किन्तु वह इस बात से और भी सशक्त बन गई है कि इन पंक्तियों में सामंजस्य की स्थापना जल्दी-जल्दी में, रेल-पेल कर नहीं की गयी है, वरन् शब्द एक-दूसरे के लिए उपस्तंभ का काम करते हैं, विरामों से सहारा प्राप्त करते हैं और अंत में दृढ़ आधारयुक्त औदात्त्य की सृष्टि करते हैं।

(४१)

औदात्त्य के लिए भाषा के छिन्न-भिन्न, और अस्तव्यस्त प्रवाह से अधिक घातक वस्तु दूसरी नहीं है। यह विशेषता लघु-लघु* (।।) और गुरु-लघु (ऽ।)† क्रम से युक्त द्विमात्रिक पदों तथा दुहरे गुरु-लघु (ऽ।) क्रम से युक्त चतुर्मात्रिक पद-रचना में मिलती है जिसमें भाषा लगभग नृत्य-संगीत के स्तर पर उतर आती है, क्योंकि अत्यधिक लयपूर्ण सभी रचनाएँ तुरन्त ही कृत्रिम तथा अत्यन्त सुकुमार और अपनी ऊपरी चमक की एकरसता

* पाइरिक्स † ट्रोकी।

के कारण सर्वथा आवेगहीन प्रतीत होने लगती हैं, और सबसे बुरी बात तो यह है कि जिस प्रकार घटिया गाने श्रोता का ध्यान विषयवस्तु से हटाकर अपनी ओर खींच लेते हैं, उसी प्रकार अत्यधिक लयपूर्ण शैली शब्दों के भाव का नहीं, वरन् केवल लय का प्रेषण करती है। वास्तव में कभी-कभी तो श्रोता पंक्ति का अन्त पहले से ही जानने के कारण वक्ता के साथ-साथ अपने पैर पटकने लगते हैं और नृत्य की भाँति पहले से ही क़दम उठाने लगते हैं। इसी प्रकार ऐसे शब्द भी औदात्त्य से शून्य होते हैं जो एक दूसरे से बहुत सटे हुए हों, छोटे-छोटे अक्षरों में विभक्त हों, और नितान्त विषमता तथा कर्कशता के द्वारा मानो लकड़ी की कीलों से एक दूसरे के साथ जड़े हों।

(४२)

साथ ही उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता से भी औदात्त्य का ह्रास होता है, क्योंकि बहुत ही संकीर्ण घेरे में विचार को ठूँसने से भी गरिमा नष्ट हो जाती है। यह आरोप समास-शैली के विषय में नहीं है वरन् ऐसी उक्ति के विषय में है जो सर्वथा क्षुद्र और छोटे-छोटे भागों में खण्डित हो क्योंकि शब्दों की अल्पता अर्थ को संकुचित करती है जब कि समास-गुण सीधा अपने निशाने पर चोट करता है। इसके विपरीत यह भी स्पष्ट है कि वाग्विस्तार भी आडम्बर को जन्म देता है। प्रत्येक वस्तु के अनुचित विस्तार के विषय में यही बात है।

(४३)

अभिव्यक्ति की क्षुद्रता से भी औदात्त्य की क्षति होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए, हेरोदोतस ने तूफ़ान का पूर्ण विस्तार के साथ अद्भुत प्रभावशाली वर्णन किया है किन्तु उस वर्णन में निस्संदेह कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं जो विषय के गौरव के अनुकूल नहीं

हैं। उदाहरण के लिए, एक पद है, "जब समुद्र उबलने लगा"। यहाँ 'उबलना' शब्द बहुत कुछ औदात्त्य को बाधित करता है क्योंकि उसकी ध्वनि अच्छी नहीं है। इसी प्रकार एक स्थान पर वह लिखता है कि "हवा थक गई," और मस्तूल से चिपके रहने वालों का "अप्रिय अन्त" हुआ। यहाँ 'थक गई' पद ग्राम्य है और उसमें गौरव का अभाव है: इसी प्रकार 'अप्रिय' शब्द इतनी बड़ी दुर्घटना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इसी प्रकार थेओपोम्पस मिस्र पर फ़ारस के शाह के आक्रमण का अद्भुत वर्णन करता है, पर बाद में सारे प्रभाव को कुछ हल्के शब्दों के प्रयोग से नष्ट कर देता है। वह कहता है: "एशिया के किस नगर ने और किस जाति ने उस महान् राजा के पास अपने दूत नहीं भेजे! दुनिया की कौनसी सुन्दर से सुन्दर और अमूल्य से अमूल्य वस्तु अथवा कलाकृति उसकी सेवा में अर्पित नहीं की गई? बैंगनी या सफ़ेद रंग की अथवा ज़री के काम की क़ीमती चादरों और चोग़ों की विपुल राशि का विचार कीजिए। सभी आवश्यक उपकरणों से सज्जित सोने के अगणित मण्डपों, परदों और अत्यन्त मूल्यवान गद्देदार आसन्दियों की कल्पना कीजिए। सोने और चाँदी की क़ीमती रकाबियाँ, प्याले और शराब मिलाने के बर्तन, जिनमें से अनेक में बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे और बाक़ी बड़े ही परिश्रम से, बहुतसा धन व्यय करके बनाए गए थे; इन सबके अतिरिक्त यूनानी और बर्बर जातियों के राशि-राशि अस्त्र-शस्त्र, असंख्य भारवाही तथा वध के लिए खिला-पिलाकर पुष्ट किए गए पशु, मनों मसाले, और बहुतसे बोरों और थैलों में भरे हुए श्री-पत्र तथा अन्य सभी प्रकार के आवश्यक द्रव्य, हर प्रकार के पशुओं का नमकीन गोश्त आदि-आदि पदार्थों के इतने बड़े-बड़े ढेर लग गये थे कि दूर से आनेवाले लोग उन्हें पहाड़ और टीले समझ बैठते थे।" स्पष्ट ही इस वर्णन में लेखक उदात्त से निम्न स्तर की ओर बढ़ता गया है जबकि इसके विपरीत उसे उच्च से उच्चतर स्तर की ओर

बढ़ना चाहिए था। समस्त सामग्री के अपूर्व वर्णन के बीच में ही वह थैलों, बोरों और मसालों का भी उल्लेख कर देता है जिससे ऐसा प्रभाव मन पर पड़ता है कि मानो नानबाई की दूकान हो। यदि इन सब सुन्दर पदार्थों के बीच—सोने के प्यालों और रत्नजटित पात्रों, चाँदी की तश्तरियों और सोने के मण्डपों के बीच—कोई व्यक्ति थैले और बोरे लाकर रख दे, तो जैसे इस कार्यवाही से हमारी आँखों को कष्ट पहुँचेगा, उसी प्रकार प्रसंग-विरुद्ध शब्द भी कुरूपता उत्पन्न करते हैं और भाषा पर कलंक-से प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार वह यह कहता है कि उन सारी चीज़ों के ढेर पहाड़ जैसे दिखाई पड़ते थे, उसी प्रकार वह सम्पूर्ण दृश्य का मोटे तौर पर वर्णन कर सकता था। वह यह कहता, "भोजन के आस्वाद और उपभोग के प्रत्येक आवश्यक पदार्थ को असंख्य पशु, ऊँट और गाड़ियाँ ढोकर ला रही थीं", या यों कहता, "स्वादिष्ट भोजन तथा शरीर के सुख के लिए आवश्यक प्रत्येक द्रव्य तथा अन्न की राशियाँ उपस्थित थीं", या यदि उसे इन सब वस्तुओं का ऐसा स्पष्ट वर्णन ही करना था तो वह यह भी कह सकता था, "रसोई के लिए आवश्यक सभी सुन्दर पदार्थ विद्यमान थे।" जब तक किसी प्रबल कारण से अनिवार्य ही न हो जाय तब तक उदात्त प्रसंगों में हमें निकृष्ट और कुत्सित भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि उचित यही है कि हम विषय के अनुकूल शब्दों का प्रयोग करें। इस विषय में हमें मनुष्य की शिल्पी प्रकृति का अनुकरण करना चाहिए, जिसने हमारे शरीर के निकृष्ट अंगों को अथवा मल-उत्सर्ग आदि की इन्द्रियों को सामने व्यक्त कर नहीं रखा है वरन्, जहाँ तक सम्भव हुआ है, उन्हें छिपाने का प्रयत्न किया है और, जैसा कि क्सेनोफोन का कथन है, उन इन्द्रियों को प्रकृति ने सुदूरतम पृष्ठभूमि में रखा है ताकि समूचे शरीर का सौन्दर्य नष्ट न हो जाय। पर इतना काफ़ी है—क्षुद्रता को जन्म देनेवाली प्रत्येक वस्तु को एक-एक कर गिनाने की आवश्यकता नहीं है।

क्योंकि जब हम पहले ही उन गुणों का उल्लेख कर चुके हैं जो शैली को भव्य और उदात्त रूप प्रदान करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उनके विपरीत गुण प्रायः उसे निकृष्ट और क्षुद्र ही बनायेंगे।

(४४)

प्रिय तेरेन्तिश्रानुस, (ज्ञान के प्रति तुम्हारे प्रेम को ध्यान में रखते हुए मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि) अभी उस एक प्रश्न का स्पष्टीकरण बाक़ी है जिसे एक दार्शनिक ने हाल ही में प्रस्तुत किया है। वह कहता है : "मुझे इस बात पर आश्चर्य है, और मेरा विश्वास है, और भी कई लोगों का है, कि हमारे युग में ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जिन्हें दूसरों को समझाने-बुझाने की अधिक से अधिक प्रतिभा प्राप्त है, जो सार्वजनिक जीवन के सर्वथा उपयुक्त हैं, प्रखरबुद्धि और तत्पर हैं, और जिनका भाषा की समृद्धि पर विशेष अधिकार है, तो भी एकाध अपवाद को छोड़ उदात्त और अलौकिक प्रतिभा के व्यक्ति अब उत्पन्न नहीं होते। हमारे युग में उदात्त वाणी का इतना भारी और सर्वव्यापी अभाव है।" आगे वह कहता है : "क्या हमें इस बात का यह घिसा-पिटा कारण स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रतिभा की धात्री जनतन्त्र-व्यवस्था ही है और साहित्यिक क्षमता का उत्थान-पतन जनतन्त्र और केवल जनतंत्र के साथ होता रहता है ? क्योंकि यह कहा जाता है कि स्वतन्त्रता में उन्नतमना व्यक्तियों की कल्पना को परिपुष्ट करने और आशा को प्रेरणा देने की शक्ति है और जहाँ स्वतंत्रता है वहाँ परस्पर प्रतियोग की उत्सुकता तथा मूर्धन्य स्थान प्राप्त करने की स्पर्धा सर्वत्र प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त लोकप्रिय शासन के अन्तर्गत सभी के लिए पुरस्कारों का द्वार मुक्त रहने के कारण वक्ता के मानसिक गुण निरन्तर अभ्यास से प्रखरतर होते रहते हैं, मानो रगड़ खाकर चमक उठे हों, और राज्य के कार्यों की प्रेरक स्वतंत्र भावना के आलोक से जगमगाते रहते हैं (जैसा कि उचित ही है)।" आगे चलकर वह

कहता है, "आज ऐसा जान पड़ता है कि हम न्यायपरायण दासवृत्ति का पाठ सीखने की ही बाल्यावस्था में हैं और उसकी रूढ़ि-रीतियों तथा आचार-व्यवहार में पूरी तरह डूबे हुए हैं। अभी हमारे विचार बहुत ही बालोचित और सुकुमार हैं और अभी हमने वक्तृत्व कला के उस सुन्दर और उर्वर-स्रोत का (मेरा अभिप्राय स्वतन्त्रता से है) आस्वादन नहीं किया। परिणामतः 'उदात्त चाटुकारों' के अतिरिक्त हमारा कोई और रूप सम्भव नहीं है।" उसके विचार से यही कारण है कि कोई दास कभी वक्ता नहीं बनता, चाहे अन्य सभी गुण उसे क्यों न प्राप्त हों। दासों में भाषण-स्वातंत्र्य के जकड़े होने के चिह्न, एक प्रकार से कारागार के तथा प्रहारों के अभ्यस्त व्यक्ति के चिह्न तुरन्त प्रकट होने लगते हैं। होमेरस (होमर) का कथन है: "दासता का एक दिन हमारे आधे पौरुष को छीन लेता है।" आगे वह लिखता है: "बौनों को रखने के पिंजड़े (यदि जो कुछ मैं सुनता हूँ, वह सही है तो), जिन्हें आम तौर पर 'नानी' कहा जाता है, न केवल अपने भीतर बन्द प्राणियों के विकास में ही बाधा डालते हैं बल्कि शरीर को जकड़ने वाले बन्धनों के द्वारा उन्हें सचमुच कृश कर देते हैं। यही कारण है कि किसी ने सभी प्रकार की दासता को (चाहे वह कितनी ही न्याय-संगत क्यों न हो) आत्मा का पंजर और लोक-कारागार कहा है।" मैंने उसे यह उत्तर दिया, "श्रीमन्, जिस युग में हम रहते हैं उसके दोष निकालना आसान है और मानव-स्वभाव के अनुकूल भी। किन्तु विचार कीजिए, कहीं यह तो सत्य नहीं है कि महान् प्रतिभा को संसार की शान्ति नहीं, बल्कि यह अनन्त युद्ध ही नष्ट करता है जिसने हमारी इच्छाओं को जकड़ लिया है; और इससे भी अधिक घातक हैं हमारे वे आवेग जिन्होंने वर्तमान युग को जैसे सेना का जाल बिछाकर अधिकृत कर रखा है और जो उसे निरन्तर संत्रस्त कर लूट-खसोट रहे हैं। क्योंकि धन के प्रेम ने (जिस रोग से आज हम सभी बुरी तरह ग्रस्त हैं)

और विषय-भोग के प्रेम ने हमें अपना दास बना लिया है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि हमारे शरीर और आत्मा दोनों को अतल गर्त में डुबा दिया है। धन का प्रेम ऐसा रोग है जो मनुष्य को क्षुद्र बनाता है और विषय-भोग का प्रेम उसे निकृष्ट से निकृष्ट बनाता है। विचार करने पर मैं यह नहीं समझ पाता कि यदि हम अपार सम्पत्ति को इतना अधिक मूल्यवान् समझते हैं या और सच कहा जाय तो उसको यदि हमने अपना देवता मान रखा है, तब यह किस प्रकार सम्भव है कि हम धन के साथ अविच्छिन्न रूप में सम्बद्ध दुर्गुणों को अपनी आत्मा में प्रवेश करने से रोक सकें। क्योंकि अपार और निर्बाध सम्पत्ति अपव्यय के साथ-साथ—क़दम मिलाकर—चलती है और जैसे ही सम्पत्ति नगरों और भवनों के द्वार खोलती है वैसे ही अतिचार प्रवेश कर वहीं बस जाता है। थोड़ासा समय बीतते ही इनका जोड़ा मनुष्य के जीवन में नीड़ बना लेता है और, जैसा कि बुद्धिमान् व्यक्तियों ने कहा है, शीघ्र ही वह सन्तानोत्पत्ति में रत हो जाता है, और आडम्बर, दम्भ एवं विलास को जन्म देता है जो उनकी जारज नहीं वरन् सर्वथा वैध सन्तान हैं। यदि धन की इन सन्तानों को वयस्क होने दिया जाय तो वे तुरन्त ही हमारी आत्मा को उन दुर्दम्य स्वामियों को सौंप देते हैं जिनके नाम हैं—धृष्टता, नियमहीनता और निर्लज्जता। ऐसा होना सर्वथा अनिवार्य है और उसके बाद मनुष्यों में दृष्टि ऊपर उठाने अथवा यश की लालसा करने की कोई क्षमता नहीं रहती। ऐसा जीवन अन्त में अपने चरम विनाश को प्राप्त होता है, आत्मा की ऊर्जा फीकी पड़ जाती है, मुरझा कर झड़ जाती है और घृण्य हो जाती है। उस समय मनुष्य अपने नश्वर गुणों की प्रशंसा में खो जाते हैं और जो कुछ अमर है उसको गौरव देना भूल जाते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति एक बार न्यायिक निर्णय के सम्बन्ध में घूस स्वीकार कर लेता है, वह किसी न्याययुक्त और सम्मान-पूर्ण कार्य का निष्पक्ष एवं सच्चा निर्णायक नहीं हो सकता, क्योंकि

घूसखोर व्यक्ति को अपने हित ही सबसे अधिक सम्मानयुक्त और न्याय-पूर्ण जान पड़ते हैं। यही बात उस अवस्था में भी सही है जब हममें से प्रत्येक व्यक्ति का सारा जीवन घूस से, पर-हिंसा के प्रयत्नों से और उत्तराधिकार के लिए षड्यंत्रों से परिचालित हो जाता है, और जब हममें से प्रत्येक विषय-सुख का दास होने के कारण, स्वयं जीवन का मोल देकर, कहीं से भी, लाभ प्राप्त करने में लग जाता है। ऐसी भयंकर महामारियों से ग्रस्त युग में क्या हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि महान् और भविष्य में जीवित रहनेवाली रचनाओं के सम्बन्ध में पक्षपात तथा भ्रष्टाचार से मुक्त निर्णायक हमें मिल सकेंगे ? बल्कि क्या यह अधिक सत्य नहीं है कि सभी लोग अपने निर्णय में लाभ के लोभ से प्रभावित होते हैं ? शायद हमारे जैसे इन्सानों के लिए स्वाधीन होने की अपेक्षा पराधीन रहना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि यदि हमारी तृष्णाएँ पिंजड़े से निकले हुए पशुओं की भाँति अनियन्त्रित रूप में हमारे पड़ोसियों पर टूट पड़ें, तो सारा संसार पाप की अग्नि में जल उठेगा। संक्षेप में, मैंने यही मत प्रतिपादित किया है कि हमारे युग में जिस प्रकार के स्वभाव-दोष उत्पन्न हो रहे हैं उनमें एक यह भी मानना चाहिए कि कुछेक अपवादों को छोड़कर हममें से अधिकांश के जीवन में उत्साह एवं मनोयोग का प्रायः अभाव-सा रहता है, क्योंकि हम प्रशंसा अथवा विषय-भोग के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से कोई परिश्रम नहीं करते। हम उन ठोस हितों के लिए प्रयत्न नहीं करते जो हमारे प्रयास के उपयुक्त और दूसरों के सम्मान के पात्र हों। किन्तु 'इन पहेलियों को उलझा हुआ छोड़ देना ही उचित है,' और आगे के विषय पर ध्यान देना चाहिए। यह विषय है 'आवेग' जिन पर मैंने पहले एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखने का दायित्व लिया था। मुझे लगता है कि यह विषय (आवेग) साधारणतः (समस्त) विवेचन का और स्वयं औदात्त्य का महत्त्वपूर्ण अंग है।

० ० ०

नाम-परिचय

[पृष्ठ ४३] १. पोस्तुमिउस तेरेन्तिश्रानुस : एक सुशिक्षित रोमन विद्वान् और लेखक का मित्र (विशेष विवरण अज्ञात)

[पृष्ठ ४३] २. कैकिलिउस : आगस्टस सीज़र के काल में सिसिली का एक भाषण-शास्त्रकार, विद्वान् और शिक्षक। उसकी रचनाएँ इतिहास और साहित्यालोचन दोनों ही विषयों पर उपलब्ध हैं।

[पृष्ठ ४५] ३. देमोस्थेनेस : समय ३८३–३२२ ई० पू०। यूनान का विख्यात वक्ता। प्लतोन (प्लेटो), होमर आदि का समकक्षी।

[पृष्ठ ४६] ४. लियोन्तिनी का गौर्गिश्रस : सिसिली में लियोन्तिनी नामक स्थान का एक भाषण-शास्त्रकार। समय ५०८–४०० ई० पू०।

[पृष्ठ ४६] ५. क्सेरक्सेस : ई० पू० पांचवीं शताब्दी में ईरान का शासक जिसने यूनान पर चढ़ाई की थी।

[पृष्ठ ४६] ६. ज़ेउस (ज़ेफ़्स) : यूनानियों का प्रमुख देवता।

[पृष्ठ ४७] ७. कल्लिस्थेनेस : ई० पू० चौथी शताब्दी का एक इतिहासकार, अरस्तू का भतीजा और शिष्य।

[पृष्ठ ४७] ८. क्लेइतारखुस : ई० पू० चौथी शताब्दी का एक अन्य इतिहास-कार, जिसकी शैली बहुत अतिरंजनापूर्ण मानी जाती है।

[पृष्ठ ४७] ९. सोफोक्लेस : समय ४९६–४०६ ई० पू०। अथेन्स का विख्यात कवि और त्रासदीकार। कहा जाता है, उसने

१२० नाटक लिखे थे जिनमें से अब केवल सात उपलब्ध हैं। इनमें अजक्स, अंतिगोने और ओइदिपुस न केवल यूनानी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं, बल्कि विश्व-साहित्य की अनुपम निधि हैं।

[पृष्ठ ४७] १०. अस्फिक्रतेस : अथेनी भाषण-शास्त्रकार, जिसकी शैली के शब्दाडम्बर की आलोचना होती है।

[पृष्ठ ४७] ११. हेगेसिअस : मग्नेसिया का विख्यात वक्ता, जिसके ऊपर यूनानी भाषा को एशियाई मुहावरों के प्रयोग द्वारा भ्रष्ट करने का आरोप लगाया जाता है।

[पृष्ठ ४७] १२. मत्रिस : थेबेस का भाषण-शास्त्रकार, इसमें भी उपर्युक्त दोनों भाषण-शास्त्रकारों के दोष पाए जाते हैं।

[पृष्ठ ४८] १३. थ्योदोरुस : गदरवासी एक भाषण-शास्त्रकार।

[पृष्ठ ४८] १४. तिमएउस : ई० पू० तीसरी शताब्दी में सिसिली का एक इतिहासकार।

[पृष्ठ ४९] १५. इसोक्रतेस : समय ४३६–३३८ ई० पू०। विख्यात वक्ता; अपनी शैली के माधुर्य और सौंदर्यपूर्ण सरलता के लिए प्रशंसित।

[पृष्ठ ४९] १६. क्सेनोफोन : समय ४४९–३५९ ई० पू०। अथेन्स का सुप्रसिद्ध सेनापति, इतिहासकार और दार्शनिक; सुकरात का शिष्य। उसकी बहुतसी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त वह प्रसिद्ध रचना भी है जिसमें उसने सुकरात के दार्शनिक विचारों को बड़ी प्रामाणिकता और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है।

[पृष्ठ ४९] १७. प्लतोन (प्लेटो) : समय ४२७–३४७ ई० पू०। अथेन्स का विश्व-विख्यात दार्शनिक, सुकरात का प्रधान शिष्य। अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ कविता और नाटक-रचना से किया था, पर शीघ्र ही बीस वर्ष की अवस्था में सुकरात से परिचय होने पर इसे अपनी रचनाओं से असंतोष हुआ

और इसने उन्हें जला दिया। उसके बाद आठ वर्ष तक यह सुकरात का शिष्य रहा। सुकरात की मृत्यु के बाद समस्त यूनान का भ्रमण किया और लौटकर अपने विख्यात शिक्षालय की स्थापना की, जहाँ देश भर से विद्वान् और यशस्वी विचारक एकत्र होते थे। यह शिक्षालय चालीस वर्ष तक चला। इसी बीच प्लतोन ने अपने सभी विश्वविश्रुत 'संवाद' लिखे जो आज तक आदर और श्रद्धा से पढ़े जाते हैं। प्लतोन की समस्त रचनाएँ, केवल बारह पत्रों को छोड़कर, संवाद-शैली में हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है 'गणतंत्र', जिसका संसार की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

[पृष्ठ ४६] १८. सुकरात : समय ४६६—३६६ ई० पू०। यूनान का महानतम दार्शनिक, मनीषी और शिक्षक। अदम्य निर्भीकता और सत्यप्रियता के कारण तत्कालीन अधिकारियों ने उसे विषपान द्वारा मृत्युदण्ड दिया था। उसकी मृत्यु के बाद अथेन्सवासियों को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। सुकरात के जीवन और सिद्धान्तों के विषय में समस्त जानकारी उसके दो प्रधान शिष्यों, प्लतोन और क्सेनोफोन की रचनाओं से ही प्राप्त होती है।

[पृष्ठ ५०] १६. होमेरस (होमर) : विख्यात यूनानी कवि। 'ईलिअद' (इलियड) तथा 'ओद्युस्सेइआ' (ओडिसी) नामक महाकाव्यों का रचयिता। उसके काल का ठीक पता नहीं, पर साधारणतः यह माना जाता है कि वह ई० पू० नवीं शताब्दी के लगभग हुआ होगा। उसके काव्य में मानव-हृदय के अत्यन्त सूक्ष्म और गहन अध्ययन के प्रमाण मिलते हैं। अपने काव्य की उदात्तता, शक्ति,

माधुर्य और सौंदर्य के कारण उसकी गणना विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में होती है ।

[पृष्ठ ५०] २०. हेरोदोतस : जन्म ४८४ ई० पू० । यूनान का प्रमुख इतिहासकार, 'इतिहास का जनक' माना जाता है । इतिहास के क्षेत्र में उसका स्थान वही है जो काव्य के क्षेत्र में होमर का और वक्तृता के क्षेत्र में देमोस्थेनेस का ।

[पृष्ठ ५५] २१. अजक्स (ऐक्स यू०) : यूनान का विख्यात योद्धा । उसका नाम वीरता में अखिल्लेस (एचिलीज़) के बाद ही आता है । उसके विषय में सोफोक्लेस ने एक त्रासदी भी लिखी है । अजक्स के जीवन के बारे में बहुतसी कथाएँ प्रचलित हैं ।

[पृष्ठ ५५] २२. 'ढाल' : हेसिओद नामक कवि की शैली के अनुकरण पर लिखी गई एक लम्बी कविता ।

[पृष्ठ ५५] २३. हेसिओद : ई० पू० आठवीं शताब्दी का यूनानी कवि । वह पहला यूनानी कवि था जिसने अपनी कविता के विषय पुराणों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों से चुने थे ।

[पृष्ठ ५६] २४. पोसेइदोन : यूनानी समुद्र-देवता ।

[पृष्ठ ५६–५७] २५. त्रिम्र (ट्राय) का घेरा : यूनान का एक नगर जिसे हेमर और वर्जिल ने अपने काव्यों में अमर कर दिया है । प्राचीन इतिहास में त्रिम्र की लड़ाई सबसे प्रसिद्ध है । यह युद्ध यूनानवासियों ने सुन्दरी हेलेन की मुक्ति के लिए किया था, जिसे त्रिम्र का राजकुमार हर ले गया था ।

[पृष्ठ ५८] २६. अखैया : एलिस के उत्तर में कारिन्थ की खाड़ी पर स्थित यूनान का एक भाग ।

[पृष्ठ ५८] २७. ओद्युस्सेइआ (ओडिसी) : यूनान के महाकवि होमर का महाकाव्य जिसमें २४ खंडों में ओद्युस्सेउस के त्रिम्र-युद्ध के परवर्ती साहसिक कार्यों का वर्णन है ।

इस काव्य की घटनावली का समय केवल ५५ दिन है।

[पृष्ठ ५८] २८. ईलिउम : त्रिग्र (ट्राय) नगर का एक दुर्ग। साधारणतः इसे त्रिग्र का ही दूसरा नाम समझा जाता है।

[पृष्ठ ५६] २६. ईलिग्रद : होमर द्वारा रचित प्रधान महाकाव्य जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रंथों में होती है। इसमें भी २४ खंड हैं। इसका शीर्षक इस बात का सूचक है कि इसमें ईलिउम (त्रिग्र) नगर की कथा है। प्रसिद्ध योद्धा अखिल्लेस अगमेमनोन द्वारा अपमान किये जाने के कारण क्रुद्ध हो जाता है और त्रिग्र के युद्ध में भाग लेने से इन्कार कर देता है, जिसके फलस्वरूप यूनानी सेना पर तरह-तरह की विपत्तियाँ आती हैं। अपूर्व काव्य-सौंदर्य के अतिरिक्त 'ईलियद' में तत्कालीन आचार-व्यवहार, धर्म, कला इत्यादि का विशद वर्णन मिलता है।

[पृष्ठ ५६] ३०. अखिल्लेस : पेलेउस और थेतिस का पुत्र तथा त्रिग्र युद्ध का सर्वप्रमुख योद्धा। अखिल्लेस को उसकी माँ ने बचपन में पवित्र नदी में नहलाया था, जिसके फलस्वरूप उसका समस्त शरीर अभेद्य हो गया था, केवल उसकी एड़ी का वह भाग जहाँ से उसकी माँ ने उसे पकड़ रखा था, नदी के जल में न डूबने के कारण दुर्बल रह गया। इस एड़ी पर ही आघात होने से उसकी मृत्यु भी होती है। त्रिग्र के युद्ध में प्रारम्भ में अपमान होने के कारण उसने लड़ना अस्वीकार कर दिया था। पर अन्त में अपने मित्र की हत्या से क्रुद्ध होकर उसने समस्त शत्रुदल का विनाश कर डाला। होमर

के प्रसिद्ध महाकाव्य 'ईलिग्रद' का नायक अखिल्लेस ही है।

[पृष्ठ ५९] ३१. पत्रोक्लुस : त्रिग्र-युद्ध का एक अन्य योद्धा तथा अखिल्लेस का मित्र। युद्ध में उसकी मृत्यु के कारण ही अखिल्लेस अपने अपमान और क्रोध को भूलकर फिर से युद्ध में कूद पड़ा और विजय प्राप्त कर उसने अंततः अपने मित्र की हत्या का प्रतिशोध लिया।

[पृष्ठ ६०] ३२. सैफ़ो : ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व की यूनानी कवयित्री जो अपने सौंदर्य, काव्य-प्रतिभा और प्रणय-निष्ठा के लिए विख्यात है। अन्य कविताओं के अतिरिक्त उसने गीत-काव्य के ही ९ ग्रंथ रचे थे। मृत्यु के बाद उसके नाम पर मंदिर बनाये गये और उसकी आकृति सिक्कों पर अंकित की गई।

[पृष्ठ ६२] ३३. 'अरिमसपेइया' : ई० पू० छठी शताब्दी के यूनानी कवि अरिस्तेउस की एक कविता।

[पृष्ठ ६३] ३४. अरतुस : ई० पू० तीसरी शताब्दी का एक यूनानी कवि। उसने एक कविता ज्योतिष पर भी लिखी थी।

[पृष्ठ ६३] ३५. आर्खिलोखुस : ई० पू० सातवीं शताब्दी का यूनानी कवि, जिसने यूनानी काव्य में कई नये छंदों का समावेश किया। उसकी उपलब्ध कविताओं में शक्ति और तीव्रता के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं; पर स्पार्तावासियों ने उसके काव्य की ग्राम्य दोषों के लिए निन्दा की थी और उसे नगर से निकाल भी दिया था।

[पृष्ठ ६५] ३६. सिसेरो : जन्म १०६ ई० पू०। रोम का सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, वक्ता और साहित्यकार। सिसेरो ने बहुतसी यूनानी रचनाओं का अनुवाद भी किया था।

[पृष्ठ ६६] ३७. **'गणतंत्र'** : यूनानी दार्शनिक प्लतोन की सर्वश्रेष्ठ कृति। प्लतोन की अन्य रचनाओं की भाँति यह भी संवाद-शैली में है जिसमें 'न्याय' के विषय में बड़ी गंभीरता और सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस ग्रंथ में प्लतोन के समस्त महत्त्व-पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों और विचारों का सार है।

[पृष्ठ ६७] ३८. **स्तैसीखोरुस** : समय ६४०–५५५ ई० पू०। यूनान का गीति-काव्यकार। उसने नृत्य, संगीत तथा 'ओड' (संबोध-गीत) की शैली में बड़े महत्त्वपूर्ण परि-वर्तन किये थे। उसकी शैली गरिमामयी थी और प्रायः उसकी तुलना होमर से की जाती है।

[पृष्ठ ६७] ३९. **अम्मोनिउस** : समय दूसरी शताब्दी ई० पू०। प्रसिद्ध वैया-करण अरिस्तारखुस का शिष्य और उत्तरा-धिकारी।

[पृष्ठ ६८] ४०. **थुक्युदिदेस** : चौथी शताब्दी ई० पू० में यूनान का महानतम इतिहासकार। वर्णनों की प्रभावपूर्णता, सुस्पष्टता और विषयवस्तु की शक्ति तथा प्रबलता के लिए वह अद्वितीय है। साथ ही उसके वर्णनों में अनुभवजन्य प्रामाणिकता भी है। एक अन्य समकक्ष इतिहासकार हेरोदोतस के साथ उसकी तुलना करते हुए कहा जाता है कि हेरोदोतस पाठकों को आकर्षित करने के लिए लिखता था, थुक्युदिदेस उनके ज्ञानवर्धन के लिए।

[पृष्ठ ७०] ४१. **एउरिपिदेस** : समय ४८५–४०७ ई० पू०। यूनान का विख्यात त्रासदीकार। उसने वक्तृता-कला की शिक्षा प्रोदिकुस से, नीतिशास्त्र की सुकरात से और दर्शनशास्त्र की अनक्सगोरस से पाई थी। उसकी रचनाओं का इतना आदर था कि उसकी पंक्तियाँ सुनाने से दासों को मुक्ति मिल जाती

थी। एउरिपिदेस ने ७५ त्रासदियाँ लिखी थीं जिसमें से कुल १९ ही अब उपलब्ध हैं। प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति में, विशेषकर अधिक सुकुमार और तीव्र प्रेम की अभिव्यक्ति में, वह अद्वितीय है।

[पृष्ठ ७०] ४२. फएथोन : सूर्य का एक पुत्र।

[पृष्ठ ७०] ४३. प्लेइअद बहिनें : अतलस की सात पुत्रियाँ। मृत्यु के पश्चात् उन्हें आकाश में स्थान मिला और उन्होंने अपना एक नक्षत्र-मंडल बना लिया। प्लेइअद जिस यूनानी शब्द से बना है उसका अर्थ है समुद्र-यात्रा करना। जब यह नक्षत्र-मंडल आकाश में उदित होता है, तो वह समय समुद्र-यात्रा के लिए शुभ होता है।

[पृष्ठ ७०] ४४. कस्सन्द्रा : प्रिअम और हेक्यूबा की पुत्री, जिसे अपोल्लो बहुत प्यार करता था। उसने वचन दिया था कि यदि तुम मेरा प्रेम स्वीकार करो तो मैं तुम्हारी मुँहमाँगी इच्छा पूरी कर दूँगा। कस्सन्द्रा ने भविष्य-ज्ञान की माँग की। पर माँग पूरी होते ही उसने अपोल्लो की प्रणय-याचना को अस्वीकार कर दिया। इस पर अपोल्लो ने उसे अभिशाप दिया कि बात सच होने पर भी कभी कोई उसका विश्वास नहीं करेगा।

[पृष्ठ ७१] ४५. एस्ख्युलुस : जन्म ५२५ ई० पू०। यूनान का सर्वश्रेष्ठ त्रासदीकार। उसके ९० नाटकों में अब केवल ७ उपलब्ध हैं। इनमें 'बंदी प्रोमेथिउस' तथा 'अगमेमनोन' जैसे विश्व-विख्यात नाटक भी हैं। 'अगमेमनोन' को तो प्रायः संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जाता है।

[पृष्ठ ७१] ४६. 'थेबेस के सात शत्रु' : एस्ख्युलुस का एक नाटक, जिसमें युद्ध और युद्ध के देवता का चित्रण है।

[पृष्ठ ७१] ४७. **आरेस** : यूनानी युद्ध-देवता।

[पृष्ठ ७१] ४८. **एन्यो** : रोमी युद्ध-देवता मार्स की बहिन।

[पृष्ठ ७१] ४९. **पैनिक** : यूनानी देवता, जिसकी डरावनी सूरत देखकर लोगों को बड़ा भय होने लगता था।

[पृष्ठ७१] ५०. **दिग्रोन्युसुस** : यूनानी सुरा-देवता।

[पृष्ठ ७२] ५१. **ओइदिपुस (ईडिपस)** : थेबेस के राजा लइउस और रानी जोकास्ता का पुत्र, जिसे अभिशाप था कि वह अपने पिता का हत्यारा और अपनी ही माता का पति होगा। यह अभिशाप कालान्तर में परिस्थिति-वश अनजाने ही प्रतिफलित हुआ और जब ओइदिपुस को इसका पता चला तो उसने आत्महत्या कर ली। प्रसिद्ध त्रासदीकार सोफोक्लेस ने इस कथा पर बड़ी ही मार्मिक त्रासदी लिखी है। ओइदिपुस के जीवन की इस परिस्थिति के आधार पर आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्री फ्रायड ने ओइदिपुस ग्रन्थि (मातृ-रति) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

[पृष्ठ ७२] ५२. **सिमोनीदेस** : समय ५५६–४६८ ई० पू०। सेग्रोस का एक कवि जिसने अपनी एक लम्बी कविता में अखिल्लेस के प्रेत का बड़ा विशद वर्णन किया है।

[पृष्ठ ७२] ५३. **ओरेस्तेस** : एउरिपिदेस के एक नाटक का नायक। वह अगमेमनोन और क्ल्युतेम्नेस्त्रा का पुत्र था। उसकी माँ ने अपने एक प्रेमी की सहायता से उसके पिता का वध कर डाला था। बड़े होने पर ओरेस्तेस ने अपनी माँ और उसके प्रेमी दोनों को मारकर अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया था।

[पृष्ठ ७३] ५४. **ह्युपेरिदेस** : एक अथेनी वक्ता। समय चौथी शताब्दी ई० पू०। सुकरात और प्लतोन का शिष्य।

[पृष्ठ ७५] ५५. **एउपोलिस** : अथेन्स का एक व्यंग्यकार। समय पाँचवीं

शताब्दी ई० पू० । इसने अपने युग के दोषों और अनैतिकताओं पर बड़ा तीव्र प्रहार किया है ।

[पृष्ठ ७६] ५६. एसखिनेस : ई० पू० चौथी शताब्दी का एक वक्ता, जो देमोस्थेनेस का प्रतिस्पर्धी समझा जाता था ।

[पृष्ठ ७९] ५७. एउर्युलोखुस : प्रसिद्ध योद्धा उल्युस्सेस (यूलिसिस) का एक साथी जो बड़ा चतुर और बुद्धिमान था ।

[पृष्ठ ८०] ५८. मेइदिआस : देमोस्थेनेस का समकालीन तथा उसका एक धनी विपक्षी । देमोस्थेनेस ने इसके विरुद्ध एक भाषण तैयार किया था जो बाद में कहीं दिया नहीं गया ।

[पृष्ठ ८४] ५९. जोकास्ता : ओइदिपुस की माँ जो शापवश बाद में उसकी पत्नी भी बनी ।

[पृष्ठ ८४] ६०. हेक्तोर : राजा प्रिअम और हेक्युबा का पुत्र तथा त्रिअ (ट्राय) का सर्वप्रमुख वीर जो यूनानियों के हाथों मारा गया ।

[पृष्ठ ८४] ६१. सरपेदोन : जुपिटर का पुत्र । त्रिअ-युद्ध में प्रिअम की सहायता के लिए गया था और बहुतसे शत्रुओं का नाश करने के बाद मारा गया ।

[पृष्ठ ८५] ६२. पैलोपोन्नेसस : यूनान का धुर-दक्षिणी भाग ।

[पृष्ठ ८५] ६३. फ्युनिखुस : ई० पू० ५१२–४७६ का एक यूनानी त्रासदीकार जिसके नाटकों में नाटकीय व्यापार अथवा चरित्रों के विकास का अभाव होता था । उसके एक नाटक 'मिलेतुस की पराजय' से अथेनी नागरिक इतने दुखी हुए कि उसे जुर्माना देना पड़ा ।

[पृष्ठ ८६] ६४. क्युरस : ईरान का एक राजा, जिसका जीवन-चरित क्सेनोफोन ने लिखा है ।

[पृष्ठ ८६] ६५. ऐलिफन्तीनि : मिस्र में नील नदी के बीच एक द्वीप पर स्थित नगर ।

[पृष्ठ ८६] ६६. मेरोए : एथिओपिया का एक नगर ।

[पृष्ठ ८७] ६७. **हेकातेउस** : ई० पू० छठी शताब्दी का एक इतिहासकार।

[पृष्ठ ८७] ६८. **कोइक्स** : अखीनिआ का एक राजा।

[पृष्ठ ८८] ६९. **अरिस्तो-गेइतोन** : एक प्रसिद्ध अथेनी नागरिक जिसने ई० पू० छठी शताब्दी में अपने देश को विदेशी दासता से मुक्ति दिलाने में बड़ा काम किया था।

[पृष्ठ ८८] ७०. **पैनेलोपे** : यूनान की एक प्रसिद्ध राज-युवती और उल्युस्सेस (यूलिसिस) की पत्नी।

[पृष्ठ ९०] ७१. **'विधि-संहिता'** : प्लतोन का एक ग्रंथ।

[पृष्ठ ९१] ७२. **अनाक्रेओन** : छठी शताब्दी ई० पू० का प्रसिद्ध गीतकार। उसकी कविता माधुर्य और सौष्ठव के लिए बड़ी प्रसिद्ध है।

[पृष्ठ ९१] ७३. **थेओपोम्पस** : ई० पू० चौथी शताब्दी का प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार। उसकी तुलना थुक्युदिदेस और हेरोदोतस जैसे इतिहासकारों से की जाती है, पर कुछेक उद्धरणों को छोड़कर उसकी कोई रचना अब अलग से नहीं मिलती।

[पृष्ठ ९२] ७४. **अरस्तू** : समय ३८४–३२२ ई० पू०। विख्यात दार्शनिक मनीषी; प्लतोन का शिष्य। उसने अपने युग के समस्त ज्ञान-क्षेत्र को प्रभावित किया था। यूरोप की परवर्ती चिन्ताधारा पर उसका प्रभाव सर्वव्यापी रहा है। उसके 'काव्य-शास्त्र', 'राजनीति', 'नीतिशास्त्र', 'भौतिकी' आदि ग्रंथ न केवल अपने युग के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ थे, वरन् आज भी उनकी श्रेष्ठता निर्विवाद है।

[पृष्ठ ९२] ७५. **थेओफ्रास्तुस** : समय ३७२–२८७ ई० पू०। प्लतोन और अरस्तू का शिष्य जिसने वैज्ञानिक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं।

[पृष्ठ ९५] ७६. **ल्युसिअस** : ई० पू० पाँचवीं-चौथी शताब्दी का एक विख्यात वक्ता। उसकी शैली सरलता और शुद्धता के लिए प्रसिद्ध है।

[पृष्ठ ९६] ७७. अपोलोनिउस : मिस्र का एक कवि जिसने एक विशाल महाकाव्य लिखा है। शैली और भाषा कृत्रिम होते हुए भी रोमानी काव्य में उसका अपना स्थान है।

[पृष्ठ ९७] ७८. थेओक्रितुस : ई० पू० तीसरी शताब्दी का एक यूनानी कवि। यह गोचारण-काव्य का जन्मदाता माना जाता है।

[पृष्ठ ९७] ७९. एरातोस्थेनेस : ई० पू० तीसरी शताब्दी का एक यूनानी कवि। ज्यामिति के क्षेत्र में अपनी विशेष देन के कारण इसे दूसरा प्लतोन भी कहा जाता है।

[पृष्ठ ९७] ८०. पिंदार : पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में थेबेस का विख्यात कवि। उसकी कविता माधुर्य से ओत-प्रोत है। कहा जाता है कि बचपन में एक बार उसके होठों पर मधुमक्खियों का एक झुण्ड बैठ गया था जो अपना सारा संचित मधु उसके होठों पर छोड़ गया था। अपने जीवन में और मृत्यु के बाद उसे अपने देशवासियों से अधिक से अधिक आदर और स्नेह प्राप्त हुआ। उसका काव्य भावों की उदात्तता, अभिव्यक्ति की गरिमा, शैली की भव्यता और पदावली के सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध है।

[पृष्ठ ९७] ८१. बख्युलिदेस : जन्म ई० पू० ५०७। यूनान का गीतिकार। इसने भी प्रशस्तियाँ तथा गीत लिखे हैं पर इसकी रचनाओं में पिंदार की सी भव्यता नहीं है।

[पृष्ठ ९७] ८२. इओन : यूनान का एक त्रासदीकार जिसकी अपने जीवन में बड़ी प्रशंसा हुई, पर जिसकी रचनाओं में अन्य त्रासदीकारों की सी गरिमा का अभाव है।

[पृष्ठ १०२] ८३. कौलोस्सुस : रोदेस की विश्वविख्यात पीतल की मूर्ति जिसे संसार की नौ आश्चर्यजनक वस्तुओं में गिना

जाता है। यह मूर्ति १०५ फुट ऊँची है और इतनी बड़ी है कि उसके दोनों पैरों के बीच से बड़ा जहाज़ निकल सकता है। ईसा से ३०० वर्ष पूर्व इसका निर्माण हुआ था और इसे बनाने में १२ वर्ष लगे थे।

[पृष्ठ १०२] ८४. पोल्युक्लेइतुस : २३२ ई० पू० का एक विख्यात मूर्तिकार। अपने समय में वह सर्वश्रेष्ठ कलाकार माना जाता था। उसकी मूर्तियाँ अपनी निर्दोषता के लिए प्रसिद्ध हैं।

[पृष्ठ १०७] ८५. फिलिस्तुस : ई० पू० चौथी शताब्दी में मिलेतुस का एक संगीतकार। उसने सिसिली का एक इतिहास भी लिखा है।